चलौ री, आज ब्रजराज मुख निरखिये

प्रकाशक	श्रीराधामाधव सेवा संस्थान, पो० गीतावाटिका, गोरखपुर
प्रकाशन-तिथि	शारदीय पूर्णिमा, वि. सं. २०३५
संस्करण	प्रथम (२००० प्रतियाँ)
मुद्रक	राधा प्रेस, गान्धीनगर, दिल्ली - ११००३१

न्योछावर — आठ रुपये

प्रकाशक	श्रीराधामाधव सेवा संस्थान, पो० गीतावाटिका, गोरखपुर
प्रकाशन-तिथि	शारदीय पूर्णिमा, वि. सं. २०३५
संस्करण	प्रथम (२००० प्रतियाँ)
मुद्रक	राधा प्रेस, गान्धीनगर, दिल्ली - ११००३१

न्योछावर — आठ रुपये

अनुक्रमणिका

दो शब्द

"चलौ री, आज ब्रजराज मुख निरखिये—लोक की लाज ते काज कहा सरैगी।"…… …ब्रजराजकुमारके नील मुखकमलकी झलक प्राप्त करनेकी जिसके प्राणोंमें उत्कण्ठा सजित हो गयी हो, उस भाव-प्रवण उरःस्थलकी रस-ऊर्मियों-को शब्दोंके तटसे सम्बद्ध कर दिया जाय—कालके अनादि प्रवाहमें ऐसा न तो हुआ है और न ही कभी हो सकेगा। प्रीतिकी वे ऊर्मियाँ कभी ससीम नहीं हो सकतीं; वे तो प्रत्येक बार नवीन, नवीनतर, नवीनतम रूपमें ही सामने आयी हैं और आती ही रहेंगी। साथ ही प्रत्येक अवगुण्ठनमें ही वे सरस, सरसतर होती जाती हैं। किन्तु इसे अनुभव भी वही कर सकता है, जिसके नेत्र उन नील-दम्पतिकी अहैतुकी कृपासे सर्वथा अमल बन चुके हों……।

प्रस्तुत पुस्तक भी रसका एक ऐसा ही अननुभूत प्रवाह है—जिसे नीलिमा-अनुरञ्जित किन्हीं नयनोंने प्रत्यक्ष देखा है— केवल द्रष्टामात्र ही नहीं रहे, अपितु स्वयं इस स्वसंवेद्य रसका रसास्वादन किया है———सम्पूर्ण रूपसे निमग्न हो चुके हैं उसमें और उस नीलोदधिके अतल-तलमें डूबनेके अनन्तर ऊपर आने और फिर गहरे पैठनेके मध्यमें रसकी ऊर्मियोंने जब जैसे-जिस दिशाकी ओर ढलकाया, रसका एक अप्रतिम प्रवाह उसी ओर एक नवीन अभिसंधि लिये उच्छलित हो उठा… साथ ही प्राणोंका सम्पूर्ण विनिमय भी हो ही गया वहीं उसी दिशामें…।

उस अचिन्त्य लीला महाशक्तिका ही आवरण आ जाता है उन सर्वथा मल-रहित नयनोंपर और चल पड़ता है भावोंका प्रवाह..। उसी उच्छलनके कुछ सीकर प्रस्तुत पुस्तकमें शब्दोंके रूपमें बिखरे हैं—और उनमें भावोंकी गरिमाका यह प्रत्यक्ष प्रभाव है कि पढ़ते समय पाठक, कुछ क्षणोंके लिए ही सही, उनमें तन्मय अवश्य होता है—और कोई आश्चर्य नहीं कि यह क्षणार्धकी तन्मयता ही उसे भावके उस बिन्दुपर लाकर खड़ा करदे, जहाँसे वह भी इस अनुपम लीला-रस-सुधा-तरंगिणीके तटका स्पर्श पा ले...।

प्रत्यक्ष द्रष्टाके मुखसे प्रसङ्गोंका चित्रण एवं आकलन भी अद्भूत हुआ है—भावोंकी मसृणता, अनुभूतिकी प्रगाढ़ता, भाषाकी प्राञ्जलता एवं चित्रणकी

सजीवताके उत्तुङ्ग शिखरोंका स्पर्श करती हुई ही यह रस-कल्लोलिनी तरंगित हो रही है और इनके द्वारा प्रकृतिसे परे निर्गुण धरातलपर अविराम भावसे चलनेवाली भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी लीलाके अन्तरालसे मधुर भावकी साधनाका अद्भुत संकेत प्राप्त हो रहा है ।

प्रस्तुत पुस्तककी सभी भाव-ऊर्मियाँ स्वयंमें पूर्ण हैं; इनका एक-दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि ये प्रसरित हुई हैं एक लक्ष्य पर ही आश्रित होकर । श्रीराधाष्टमी महा-महोत्सवके परम पावन दिवसपर यह उन अकारण करुणामयीका कृपा-प्रसाद ही हमें समय-समयपर मिलता रहा है ।

किंतु भाव-लहरियोंका कोई इतिवृत्त नहीं होता । जो अपने उर:स्थलमें नीलिमा लिये होते हैं, उन-उनसे ही ये संक्रमित होती हैं—। ऐसे ही नीलमा परिपूरित हृत्तलमें ये सब स्फुरणाएँ हुई और कृष्णाञ्जन अनुरञ्जित आँखें देख रही हैं ।

नील दम्पतिके चरण-नख-चन्द्रको छूकर ध्यानस्थ हुई-सी सारिका "किशोरी-के स्वप्न-विलास" की उस पवित्र कथावलिका वर्णन करने चली—पुकार उठी वह—"प्रियतमे ! राधे ! देखो सही, आज वृषभानुपुरमें तुम्हारा वार्षिक शुभ जन्मोत्सव हो रहा है । अहा ! क्या ही रम्य मनोरम दृश्य है !"...अरे ! मैया यशोदा अपने अङ्कमें नील शिशुको उठाये तीरकी भाँति वहाँ जा पहुँची है, जहाँ कीर्तिदा महारानी विरा-जित थीं और सामने ही भूमिपर पड़ी है एक चिन्मयी अद्भुत कल्पवल्लरी-सी ! उस सद्य-प्रसूता बालिका...पर दृष्टि पड़ते ही मैयाके दहर विद्यामय द्वार उद्घाटित हो उठे और मैया सोचने लगी—ये दोनों गौर तेजोमयी बालिका एवं नीलिमाकी खान यह मेरा नील-पुत्र सर्वथा-सर्वांशमें एक हैं; इनमें कहीं भी किंचित् मात्र भी भेद नहीं है भला । नित्यलीलाके लिये ही दोनोंका रंगभर भिन्न दीख रहा है । यही नित्य नील है, यही नित्य गौर है...।

परन्तु यह सब है किशोरीका स्वप्न-विलासमात्र ही !

अविलम्ब ही अब बज उठी वंशी नन्दनन्दनकी । वेणुका यह मधुर स्वर न जाने क्या-क्या चमत्कार कर बैठता है । जानते हो—सोनेको तपाया जाता है भला, रजकी रजके एक अणुकी छाया भी न रहे पुरटपर, पुरट-पात्रपर इसलिये और फिर उस कनक-पात्रको नन्दनन्दन अपने हाथमें लेकर अपने हृदय-मन्दिरमें संस्था-पित कर देते हैं, सदाके लिये, अनन्तकालके लिये...। इसे ही कहा जाता है रागके उन्मेषकी एक प्रणाली । इस प्रकार नन्दलालके द्वारा वंशी-वादन होकर उस वंशी-

ध्वनिके श्रवणसे भी राग जग उठता है .... । वंशी बजाकर नन्द-लाड़िले चित्तको आकर्षित कर लेते हैं और उसे अपने रागमें रँगना आरम्भ करते हैं। जितनी तूलिका, उतने ही चित्रण एक ही चित्रके। अस्तु, इसके पश्चात् वे दश दशाएँ...और फिर अन्तिम परिणाम। पुरट-पात्रका पर्यवसान होता है नीलिमा-की ऊर्मियोंमें ही।

परन्तु यह अनुभव उसीके लिये सम्भव है, जो अन्य अभिसंधियोंसे सर्वथा शून्य होकर साधनामें ही अपने मनप्राणको तन्मय कर देनेको जुट पड़ता है और फिर वहीं, जहाँ वह है, जिस परिस्थितिमें है, भगवत्कृपाके प्रकाशकी प्रतीक्षा करता रहता है। यह होनेपर ही सम्भव है—एक भी पद-विन्यास नन्दसदनकी ओर...।

किंतु उन ऊर्मियोंमें लीला-सुख-संवर्द्धन हेतु परिवर्तन भी परिलक्षित होते रहते हैं। अचिन्त्य, अनिर्वचनीय उस आनन्द-सिन्धुमें भी विरह-तटके स्पर्श होनेपर महातप्त ऊर्मियाँ नाच उठती हैं...और उसी, जिसे आजतक किसीकी आँखें भी न देख सकी हैं, ऐसी ही अप्रतिम ऊर्मि—एक ऐसी लहरीके साथ नृत्य करती हुई किशोरी-का अन्तर मुखर हो उठता है..."नीलसुन्दर प्राणनाथ प्रियतमके जानेका प्रश्न बना क्यों ? इसीलिये तो कि वहाँ उस नरपतिके नगरमें जानेमें सुखका अनुभव है इन्हें; तो मैं इस सुखकी विघातिनी क्यों होऊँ ?" सत्य ही महाप्रलयका महाभीषण झंझा-वात आरम्भ हो गया.. शेष बच रहा केवल ज्वाला, अन्धकार, स्वाहा ....!

"वृन्दा-कानन ध्वस्त हो चुका था—एक दिन जहाँ रसकी कल्लोलिनी हिलोरें लेती थी – वहाँ मरुस्थलका झंझावात परिव्याप्त था। उसी प्रवाहमें परदेसी उद्धवजी नीलसुन्दरके नवीन दूत बन कर आये—और साँवरका नाम सभी गोप-सुन्दरियोंके कर्णपुटोंमें जाकर भावोंकी रागिनी उद्बुद्ध करनेमें हेतु बन गया। उरःस्थलमें विराजित महाभाव-समुद्र नवीन फेनसे फेनिल हो उठा...।" और नीलसुन्दर क्या वस्तु है, राधाकिशोरी क्या वस्तु है, रस-तत्त्व क्या है ? जिस पथसे चलकर कोई भी इसका यत्किंचित् आभास पा सका है, वही पथ आज उद्धवको प्राप्त हो गया।" और ज्ञानकी सम्पूर्ण गरिमाको विस्मृतकर परम ज्ञानी उद्धवकी आँखें भी अब बूँद बरसा रही थीं। साथ ही "महाध्वंसका अवशेष" मात्र गोपसुन्दरियोंके देहमें भी प्राण रुद्ध थे, मात्र इसी आशापर कि हमारे प्राणनाथ आयेंगे तो अवश्य।

किंतु इस क्षणतक कृष्ण-प्रियतमाके वीणा-विनिन्दित स्वरको सुन न सके थे साँवरके सखा और इस वेदना-व्यथाका भार उनके प्राण अब और ढो सकें—

ऐसा सम्भव नहीं दीख रहा था। अतः "किशोरी मुखर हुई"—"मधुप। मेरे प्राणनाथने मुझसे गद्गद कण्ठसे कहा था—

"प्रियतमे ! मुझे भी एक दान दे दो। मैं भी अपने हृदयमें एक चिर-लालसा सँजोये प्रतीक्षा कर रहा हूँ—मेरे भी आकुल प्राणोंकी अभिलाषा है कि मैं अपनी अलकोंसे तुम्हारे इन चरण-सरोरुहोंको पोंछ-पोंछकर निरवधि असमोर्ध्व सौभाग्यशाली एवं सुखी बना रहूँ। प्राणेश्वरी राधाके चरण-सरोरुहोंपर एकमात्र मेरा ही स्वत्व रहे—इन्हें केवल वे ही स्पर्श कर सकें—स्पर्श करें, जिसका मन, जिनकी बुद्धि, जिनकी अहंता ठीक-ठीक मेरे समान जलसम कृष्णवर्णताको धारण कर लें और अविराम इन्हें रस-सिक्त रखें।" "अतः क्या कहूँ मधुप ! इसीलिये उन कुन्तलोंसे मार्जित मेरे इन चरणोंपर एकमात्र मेरे प्राणधन नीलसुन्दरका ही स्वत्व है, वे ही इन्हें स्पर्श करनेका अधिकार दानकर सकेंगे। मधुप ! इसीलिये, इसीलिये मेरी विनम्र विनती, अत्यन्त मनुहाररभरी विनतीको मान लो—तुम मेरे चरणोंका स्पर्श मत करो।" उत्पल-दल-सी किशोरीकी आँखें इस कथनके साथ-साथ ही निमीलित हो गयीं।

आज किशोरीकी निराशा—वेदना प्राणोंमें अद्भुत ज्वालाका संचार कर रही थी और आँखोंसे वे देख रही थीं बकुलकी उस शाखाकी ओर, जिसपर अवस्थित पपीहा पी-कहाँ-पी-कहाँकी रट लगा रहा था। अचानक किशोरी अनर्गल असम्बद्ध प्रलाप-सा करने लगी—"विहंगम हे ! मेरी एक सेवा करना। मेरे प्राणोंके जल जानेके अनन्तर उसके उत्तापसे ही मेरे तनका कण-कण भस्म तो बन जायेगा ही, किंतु आवश्यकता होगी उसे बिखेर देनेकी। तुम नीलसुन्दरकी दासी राधाके निष्प्राण भस्मीभूत कलेवरका एक कण अपने चंचुमें छिपाकर मेरे श्याम मयङ्कके वर्तमान क्रीड़ास्थल द्वारावतीमें प्रवेश पा लेना—और जहाँ अपेक्षाकृत सबसे कठोर भूमि, अथवा नुकीले मणिखण्डोंसे पाटित भूमिका भान तुम्हें हो, वहीं, बस वहीं सबके अनजानमें तुम मेरे तनके उस भस्मकणको उस स्थलपर ही चञ्चु खोलकर गिरा देना—वहीं-वहीं तुम्हारे द्वारा मेरी एक अप्रितम सेवा सम्पन्न हो जायेगी।" कहते-कहते—

बकुलकी शाखापर आसीन पपीहा पी-कहाँ, पी-कहाँकी पुकारमें संलग्न हो गया और इस ओर "कृष्ण प्रियतम प्राणाधिक हे ! मेरे जीवनसारसर्वस्व नीलसुन्दर हे ! हाय रे, तुम कहाँ हो?" कहती हुई किशोरी मूर्च्छित हो गयीं। सम्पूर्ण सहचरियोंका समूह किशोरीको घेरे अवस्थित है, सबकी आँखें निमीलित हैं—किंतु सचमुच

ही, इसी क्षण सुन्दरी-सरोवरके उत्तर तटसे नीलसुन्दर दौड़े आ रहे हैं, इस स्थल-की ओर ही—उनकी गतिमें आत्यन्तिक त्वरा है भला !

बस, अब आ ही गये व्रज-जन-जीवन-सर्वस्व और सर्वथा प्रशमित हो गयी अमिलनकी वेदना ज्वाला.. !

इन शब्दोंके माध्यमसे वही नीलोदधि उच्छलित हो रहा है और कहनेवाले-के नेत्रोंके समक्ष विभिन्न तरंगें नाच रही हैं। कदाचित् इनका चिन्तन, स्मरण, पठन हमारे लिये भी उस भूमिकाका निर्माण कर दे, जहाँ स्व-विनिमय-स्वरूप विलास हिलोरें लेने लगता है और लहरें अपने आपमें, अपने आपके प्रति ही नाचने लगती हैं।

—प्रकाशक

किशोरीका स्वप्न-विलास

नीलसुन्दरके भुजपाशमें बँधी हुई राधाकिशोरीकी मानसी वृत्ति प्रियतममय हो रही है। आँखोंमें नींद-सी भर रही है। उस ओर वृन्दावनेश्वर बिहारीलालकी अलकें किशोरीके तरौनामें उलझी हुई हैं और उनके मानस-देशमें प्राणप्रियतमा राधा-किशोरीकी मूर्ति निस्पन्द भावसे विराजित है।

आज आदित्यवार है। भाद्रपदकी शुक्ला अष्टमी है। दिवसका प्रथम पहर है। स्थलसमीर मन्दगतिसे प्रवाहित है। कलिन्दनन्दिनीके तटकी भूमि है। पुष्पित वकुल, आम्र, कदली एवं जामुनके पत्रोंसे ढँकी हुई कुंजकी शोभा अतिशय मनोहर दीख रही है।

आकाश पूर्ण निर्मल है। मेघका चिह्न तक नहीं है उसमें। अंशुमालीकी किरणोंसे राजित पुलिनकी शोभा अत्यन्त मनोहर है। साथ ही बालुका-राशि अत्यन्त शीतल स्पर्शका दान कर रही है। वहीं स्वर्णमयी वेदीकी रचना अत्यन्त सुन्दर दीख रही है। यहीं वह स्थल है, जहाँ संध्या होते ही रासरसका प्रवाह बह चलता है। सदा-का सनातन नियम है इस स्थलपर रासरसकी अभिव्यक्ति होते रहना।

तटके उस पार द्रुमोंसे लिपटी हुई अगणित हरित लताओंका जाल फैला हुआ है। विहङ्गमोंका क्रीडा-स्थल हैं ये लताएँ। एक ओर गुच्छ-के-गुच्छ पुष्पोंका भार है इनपर, दूसरी ओर विहङ्गमोंका दल-का-दल झूल रहा है इनकी टहनियों-पर। इस प्रकार वे बल्लरियाँ अत्यन्त नमित हो गयी हैं, भूमिका स्पर्श कर रही है। उधर वृक्ष शाखाओंपर लगे हुए फलोंका भार इतना अधिक है कि वे सभी पादप धराका स्पर्श कर रहे हैं। भूमिका वक्षःस्थल सुगन्धोंसे परिपूरित हो रहा है। और तो क्या, गिरिवरकी गुफाएँ भी सौरभसे मह-मह कर रही हैं।

इस समय भ्रमरावली पर्याप्त मधुपानसे मत्त होकर मौन-सी हो गयी है, किंतु विहङ्गम समुदायके सरस स्वरका किञ्चित् भी विराम अब तक नहीं हुआ है। कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहके समीप, जहाँ धारा रेणुकाको स्पर्श करती हुई बह रही है, हंस-हंसिनियोंका दल विराजित है। प्रीतिकी ऊर्मियोंमें बहता हुआ हंस, हंसिनीके

चरणप्रान्तमें अपना सिर झुकाए आसीन है। भावकी तरंगें उसके पंखसे मानों ऊपर-नीचे, दाहिने-बाँयें बिखर-सी रही हैं।

कुछ जल-विहङ्गम धाराके ऊपर तैरते हुए दीख रहे हैं और धारासे सम्बद्ध मेदिनी पर चतुष्पदोंका दल निर्भय होकर विचरता दीख रहा है। ये चतुष्पद कुछ चलकर रुक जाते हैं, सुख-सिन्धुके प्रवाहमें डूबकर अपनी आँखें मूँद लेते हैं, निस्पन्द हो जाते हैं। फिर अचानक इनकी आँखें खुल जाती हैं और उन्मत्त-से हुए ये आगेकी ओर चल पड़ते हैं। हाँ ! केवल वह शुकपक्षी अकेला, चुपचाप—नीरव बैठा है। शेष सभी अपने-अपने कलरवमें तन्मय हो रहे हैं।

कुञ्जसे सर्वथा जुड़ा हुआ वहाँ एक विशाल कदम्बका वृक्ष है। कीर उस वृक्ष-की डालपर ही आसीन है। वह पूर्ण तत्त्ववेत्ता है। उसकी सहज अनुभूति है कि यह दृश्य-प्रपञ्च सर्वथा-सर्वांशमें कृष्णमय है, सच तो यह है कि वह नन्दनन्दनमय बना हुआ ध्यानस्थ बैठा है।

इस बड़भागी शुकपक्षीको श्रीकृष्णचन्द्र अपने करसरोरुहसे प्रतिदिन स्नान कराते हैं, पोंछते हैं और फिर राधाकिशोरीके अधरामृतसे सिक्त सुमधुर फल लेकर इसके चोंचमें भर देते हैं। इसके अनन्तर किशोरीकेसामने उसे विराजित कर उसे पूछते हैं—'अहो मित्र ! बोलो, तुम्हें आज क्या पढ़ाऊँ मैं ? तुम कौन-सा पाठ पढ़ना चाहते हो ?'

अस्तु, सहसा यही शुकपक्षी अपनी आँखें खोलकर देखने लग जाता है।

उड़कर कुञ्जमें प्रविष्ट हो जाता है।

वहाँ विराजित सारिकाके साथ शुकका मौन मिलन होता है।

दोनोंकी दृष्टि भावाविष्ट नीलसुन्दर और राधाकिशोरीकी ओर केन्द्रित हो जाती है, दोनों देखने लगते हैं उनकी ही ओर।

अचानक राधाकिशोरीमें एक नवीन भावका प्रवाह चल पड़ता है।

वे एक स्वप्न देखने लगती हैं।

यह देखते ही प्रियतम नीलसुन्दरको भाव-समाधि हो जाती है।

सारिका 'जय-जय' पुकार उठती है। उसके इस प्लुत-रवसे प्रियतम नील-सुन्दरमें बाह्यज्ञानका संचार हो जाता है।

वे कम्पित करसरोरुहसे प्रियतमाकी आँखों का संमार्जन करने लगते हैं।

इस प्रकार नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधाको बाह्यज्ञान हो उठता है।

प्रियतम कहने लगते हैं—प्राणेश्वरि ! तुम एक अतिशय सुन्दर स्वप्न देख रही थीं, और मैं देख रहा था तुम्हारे अर्द्धमुद्रित शारदीय सरोरुह जैसे दृगोंका लावण्य। साथ ही तुम्हारे हृत्तलमें जो सरसताकी ऊर्मियाँ-सी नृत्य कर रही थीं और जो उनके चित्र तुम्हारे मुखसरोज पर अंकित हो जाते थे, उसे देख-देखकर मैं भाव-समुद्रमें डूबता-उतराता था।

चिन्मयी तन्द्रासे तुम्हारा वदन-सरोज आवृत्त हो रहा था, शान्तिका आकर बना हुआ वह सब और सुषमा बिखेर रहा था, बरबस मेरे मनका हरण कर ले रहा था। अचरजकी बात यह थी कि उस समय ही भाव एवं बोधका अत्यन्त सुखमय सङ्ग्राम-सा छिड़ रहा था। साथ ही उस ओर मेरी अपनी प्रकृतिके द्वारा ही विरचित एक सुमनोहर वितान मुझपर तान दिया गया था।

अचानक कीरमें किशोरीके उस स्वप्नको सुननेकी अभिलाषा जाग उठी।

कीर प्रियतम नीलसुन्दरसे इसके लिये अनुरोध कर बैठता है।

साथ ही वृषभानुनन्दिनीका स्तवन भी वह करने लगता है।

किशोरी सारिकाके प्रति सजल नेत्रोंसे निहारती हैं और उस स्वप्नको शुक पक्षीसे बता देनेकी आज्ञा प्रदान करती है।

सारिके री ! जो स्वप्नमें अभी देख रही थी, उसे तू सम्पूर्णतया जानती है। साथ ही मेरे प्राणरमण नीलसुन्दरका संकेत भी तू समझती है। कीर, मैं क्या देख रही थी, यह सुन लेनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहा है। अतएव इसे तू सब बातें सुना दे। यह सुननेका अधिकारी है, क्योंकि इसके मनसे मेरे प्रियतम नीलसुन्दरकी स्मृति क्षण भरके लिये भी कभी विलुप्त नहीं होती। कभी भी मेरे प्रियतम इसके मनसे नहीं हटे।

सारिका उल्लासमें डूब गयी। अपने चञ्चुसे नील-गौर-दम्पतिके चरणनखचन्द्र-को छूकर ध्यानस्थ हो गयी वह। ध्यानमें डूबी रहकर ही उस पवित्र कथावलीका वर्णन करने चली सारिका। लाड़िली-लालके लाड़में ही यह अनादिकालसे पली है। अतएव रसमयी ब्रजकी विभिन्न वीथियाँ कहीं,–किञ्चित् भी सारीके लिये दुर्गम नहीं हैं। अनायास ही वह सबसे सम्पूर्णतया परिचित है।

अस्तु, स्फुट स्वरमें सारिका कह उठती है—अहो कीर ! वह पवित्र चरित्र सुनकर आनन्द-सिन्धुमें बस, बह चलो। अहा ! देखो, नीलसुन्दरमें और तुममें रंचक मात्र भी भेद नहीं है। बस, इतना-सा ही अन्तर है कि श्रीचरणोंका तुम्हारे गात्रपर प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण तुम्हारा यह अङ्ग हरिताभ हो गया है और मेरे स्नेहके वशीभूत होकर तुमने विहङ्गमका रूप धारण कर लिया।

तुम सब बातें जानते ही हो। परंतु जानकर भी अनजान बने हुए हो। बड़ी अच्छी बात है, जिस प्रकार तुम्हें सुखकी उपलब्धि हो, वैसे ही बने रहो। किंतु तुमने अभी-अभी अभिलाषा व्यक्त की है तथा रसकी विभिन्न गतियोंके तुम पूर्ण मर्मज्ञ हो, इसलिये तुम अवश्य सुनो कि किशोरी स्वप्नमें अभी क्या अनुभव कर रही थी।

हमारी स्वामिनी श्रीराधाने अनुभव किया—प्राणवल्लभ नीलसुन्दरने मेरी अलकोंको सँवारा है और अब अचानक गंभीर हो गये हैं। पर यह देखो, कुछ ही क्षण बीतते-न-बीतते सहसा वे अपने आसनसे उठ पड़े हैं। उनके नील अङ्गोंमें आत्यन्तिक विह्वलताकी लहरें उठ रही हैं। सुमधुर वाणीमें कहते जा रहे हैं वे और उनके दृगोंसे अश्रुविन्दु झर रहे हैं।

प्रियतमे ! राधे !! देखो सही ! आज वृषभानुपुरमें तुम्हारा वार्षिक शुभ जन्मोत्सव हो रहा है। अहा ! क्या ही रम्य मनोहर दृश्य है ! भारतवर्षकी धराका भाग्य भी अप्रतिम ही है। अरे ! कितना कैसा सौभाग्य है इस धरणीका, जिसने श्रीचरणोंको अपनी पपनियोंसे छू लिया, छूकर धन्य-धन्य हो गयी है।

मेरे प्राणोंकी रानी ! आज ही ब्रजवासी तुम्हारा प्रत्यक्ष दर्शन कर मुग्ध हो गये थे। और तुम्हारे पिता वृषभानु महाराजकी शोभाका, सुयशका, सौभाग्यका, जिससे वे विभूषित हो रहे थे, सबके मन पर, आँखों पर कैसा प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उनकी जिस सम्पदाका, निर्मल सुयशका, अप्रतिम सौभाग्योदयका जो-जैसा चित्र अंकित हो रहा था, उसके लिये प्राणेश्वरि ! शब्द नहीं है, जिसका आश्रय लेकर मैं तुम्हें बतला सकूं। इतना ही कह सकता हूँ—उनका वह सौभाग्य, वैभव, उनके यश-

की वह अप्रतिम गरिमा, उनकी अंगशोभाका ऐसा अद्भुत चमत्कार—ये सब ऐसे व्यक्त हो रहे थे, जिसकी तुलना कहीं भी नहीं हो सकती, आजतक नहीं हो सकी है; आगे होगी भी नहीं। कोई भी दानव मानव अथवा अमरेन्द्र ऐसा नहीं हो सका जिसकी उत्तुङ्ग आकाशमें इस प्रकार, ऐसी ध्वजा फहरा उठे पुत्रीके जन्मको हेतु बनाकर।

प्राणेश्वरि! देखो अंशुमालीको उनके तपका निर्मल फल भी आज ही मिला था। आज ही व्रज-चन्द्रमाके नेत्र-सरोज खिल उठे थे। आज पुनः मेरी मैया यशोदा रानीकी आँखें सजल हो रही थीं। क्यों न हो, मैया सुस्पष्ट अनुभव जो कर रही थी कि उसके नीलम लालका परम मंगल परिणय-उत्सव मानो अभी-अभी सम्पन्न होने जा रहा है, चिरकालसे अभिलषित उसका मनोरथ बस, बस पूर्ण होने जा रहा है।

हृदयेश्वरि! उस समय मध्याह्नकी बेला बस बीती ही थी। अभी व्रजके देशमें अपराह्न भी नहीं हुआ था।

इतनेमें ही जन्मका समाचार लिये एक बड़भागी दूतने हमारे गाँवमें अपने मंगलमय पैर रखे। इतनी शीघ्रतासे वह दूत आया था कि मानो उसके अंगोंमें पंख लगे थे। बड़ी त्वरा थी दूतमें।

उस मंगलमय संदेशको जैसे-तैसे सबसे पहले उसने मेरे बाबाको दिया। इसके पश्चात् शीघ्रतासे उसने बाबाकी अनुमति ली और वेगसे चल पड़ा। देखते-न-देखते वह व्रजराज नन्दके आँगनमें खड़ा हो गया।

उस समय मैया अपने आँचलमें मुझको छिपाये बैठी थी, रोम-रोम उसका आनन्दमें डूबा हुआ था। मुझसे लाड़ लड़ा रही थी वह और अपने वक्षः स्थलका अमृतकुंभ मेरे मुखमें दिये हुए थी।

अचानक दूतने आँगनकी नीरवताको चंचल बनाकर यह कहा—'जय हो! वन स्थलका यह आवास अनन्त काल तक सुखसे बसा रहे। व्रजरानी! सुनो, वृषभानुपुर-का राजकुल अद्भुत कन्यारत्नसे विभूषित होकर धन्यातिधन्य हो गया।'

प्राणेश्वरि! मात्र इतना ही दूत कह सका। ओह! उसकी वाणी रुद्ध हो गयी और आगे वह कुछ भी नहीं बतला सका कि वृषभानु पुत्री कब, कैसे आविर्भूत हुई। तथा उस ओर इन शब्दोंको सुनकर मेरी मैयाका क्या हाल हुआ, इसे कौन बतावे मेरे प्राणोंकी देवी! देखो! मैयाका प्राण तो मैं हूँ। उसी प्राणके अंश हैं

बलराम दाबा। एक बलराम दादा ही जान सके थे कि उस समय मैयाकी क्या दशा हुई थी।

उन्मादिनी-सी हुई मेरी मैयाने अपने गलेका हीरकहार निकालकर दूतके सामने फेंक दिया। यन्त्रकी भाँति उसकी आँखें नाच रही थीं। वह प्रत्यक्ष देख रही थी कि कहाँ, कैसे, कीर्तिदा महारानी अपने प्रसूति-गृहमें विराजित हो रही हैं। बाहर-के व्यक्तियोंको इतना ही भान हो रहा था कि मैया मानसी दृष्टिसे कुछ देख रही है।

अस्तु, क्षण बीतते-न-बीतते मैया मुझे अपने अंकमें लेकर बाहरकी ओर निकल चली। एकाकिनी चली जा रही थी वह अपना घर छोड़कर। एक पल भी अब वह कहीं किञ्चित् मात्र भी ठहर ही नहीं सकती थी।

रोहिणी मैया भीतर आँगनमें किसी कार्यमें व्यस्त थीं। इस प्रकार मेरी मैया-को भागती देखकर यन्त्रवत् वह भी दौड़ पड़ी और मेरी मैयाको शपथ देकर बोली—"नन्दरानी! तनिक रुक जाइये।"

रोहिणी मैयाके हाथोंमें जो वस्त्र, जो आभूषण आये, उन्हें लेकर पहुँची वह मेरी मैयाके पास। उन वस्त्रोंको, भूषणोंको उसने मेरी मैयाको जैसे-तैसे धारण करा दिया। इतनेमें ही सेवक शकट लेकर आ पहुँचा। मैया सेवकके आगे भी घूँघट कर लेती थी। पर आज बिना घूँघट किये शकट पर इस प्रकार जा चढ़ी कि मानो वह भाँग पीये हो, मदिरा पान कर बैठी हो!

बैलोंकी जोड़ीसे आकर्षित हुई वह गाड़ी यद्यपि बड़े वेगसे भागी चली जा रही थी, किन्तु मैयाका मसृण मन आत्यन्तिक शीघ्रतामें सराबोर जो हो चुका था। मैया अनुभव करने लगी कि यान अतिशय मन्द गतिसे अग्रसर हो रहा है तथा ऐसी भावना होते ही उसके चित्तमें यह संकल्प उठने लगा—

'अहो! ठीक तो है। महिमामयी रोहिणी अपने पुत्रको अंकमें धारण किये साक्षी बन जायँ, और यदि मैं सचमुच सती नारी हूँ तो यह नयी बात आज देख ही लूँ कि यह रथ आकाशमें उड़ चले।' मैयाका यह सोचना पूरा होते-न-होते सचमुच बैल आकाशमें उड़ चले। वायुके समान उनकी गति हो गयी। नहीं, नहीं! वायुसे भी अत्यधिक वेग लेकर वे गतिशील हो रहे थे और वह देखो, बाबा अभी पहुँचे भी नहीं थे, पर मैया तो पहुँच ही गयी।

वहाँ द्वारपर नर-नारियोंकी ऐसी भीड़ थी कि यदि कोई हाथ जोड़कर पथ देनेके लिये प्रार्थना करता हुआ—मनुहार करती हुई आगे बढ़े तो वह कहीं आधे पहरमें अन्तःपुरमें पहुँच पाता, पहुँच पाती। क्यों न हो, आज किसीको भी, किसीसे किञ्चित् मात्र भी भय नहीं रह गया था। किन्तु सबने मैयाको तो आगे जानेका मार्ग दे ही दिया। मैयाके अंकमें एक नीला शिशु जो विराजित था। सबकी आँखें बरबस उस नील शिशुपर चली ही जाती थीं और सभी परम उल्लसित होकर मैयाको पथदान कर ही दे रहे थे।

अस्तु, मेरे प्राणोंकी रानी ! मैया तीरकी भाँति वहाँ जा पहुँची, जहाँ कीर्तिदा महारानी और तुम विराजित थीं तथा इस प्रकार देखने लग गयी मानों वह जो कुछ भी देख रही है, वह सत्य घटना नहीं थी। हर्षका इतना घना जाल मैयाको आवृत्त किये हुए था, आनन्दसे उद्भूत इतना घना आवरण मैयापर आ चुका था कि वह उसमें उलझकर एक व्यथा-सी अनुभव करने लग गयी थी—ऐसा मानकर कि यह तो मैं अभी स्वप्न देख रही थी, जो भी यह आनन्द मूर्त हो रहा है, वह तो वस्तुतः स्वप्नका आनन्द है।

मैयाको इस प्रकार भ्रमित होते देख, कीर्तिदा महारानी उसकी दशाका अनुमान लगाकर हँस पड़ीं। उनके हँस देनेपर ही मैयाको यत्किञ्चित् चेत हुआ। फिर तो उसके सारे अंग सिहर उठे, क्योंकि उसकी दृष्टि भूमिपर विराजित तुमपर जो केन्द्रित हो गयी थी। बड़ी निराली शोभा थी तुम्हारी उस समय हृदयेश्वरि ! मानो एक चिन्मयी अद्भुत कल्पवल्लरी भूमिपर पड़ी हो ! सचमुच प्राणवल्लभे ! तुम पर दृष्टि पड़ते ही मेरी मैयाके दहर विद्यामय द्वार उद्घाटित हो उठे थे—सम्पूर्ण तत्व निरावरण होकर उसके सम्मुख जो आ गया था।

मैया समझ गयी कि कीर्तिदा महारानीकी वह कल्पलतिका-सी बालिका क्या वस्तु है। मन-ही-मन वह सोचती जा रही थी—अहा ! यह तो वही है, जो नित्य-निरन्तर विश्वेश्वरका भी संचालन करती रहती है। अहो ! यही तो वह जगतका निर्माण करने वाली अपरा-परा प्रकृति भी है। कैसी विचित्र बात ! मैं तो अपने अंकमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको लिये हूँ और यह कीर्तिदा महारानीकी बालिका तो उस सच्चिदानन्द ब्रह्मके भी प्राणोंकी ह्लादिनी शक्ति है।

ओह ! यही तो परमेश्वरके चिदंश-सदंशमें नित्य विराजित चिति एवं संधिनी शक्ति है। अहा ! हा ! असम्भवको भी सम्भव करने वाली अघटघटना-पटीयसी योगमाया भी तो यही है। ओहो ! वृन्दावनकी आधार शक्ति यही, यही है। सम्पूर्ण

गोकुलकी पालिका-शक्ति यही है। ओह ! क्या कहूँ—व्रजवनके चराचर प्राणियोंकी माला बनाकर अपने कंठमें धारण करने वाली शक्ति भी तो यही है !···सम्पूर्ण वनस्थलके चराचरको धारण किये हुए यही तो विराजित है।

अरे ! देखो सही ! मेरे अंकमें यहाँ जो नीलिमाका पुञ्ज बना हुआ बालक बिराजित है, वह एक रहकर ही—बस, बस, बिलकुल वही तो यह गौर तेजोराशि बालिका बना हुआ है। ये दोनों गौर तेजोमयी बालिका एवं नीलिमाकी खान यह मेरा नील-पुत्र सर्वथा-सर्वांशमें एक हैं ! इनमें कहीं भी किञ्चित् मात्र भी भेद नहीं है भला ! नित्य लीलाके लिये ही दोनोंका रंगभर भिन्न दीख रहा है। यही नित्य नील है ! यही नित्य गौर है !

इस प्रकार मैया तत्त्वके सागरमें—उस सागरके आवर्तमें नाचने लग गयी। आवर्तकी लहरें उसे वृत्ताकार नचा रही थीं। अरे ! नहीं, मैया तो उस आवर्तमें डूबने लग गयी। उसकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ शान्त हो गयी थीं। इसी बीच अचानक रूप-गरिमाकी एक लहर आयी और उसने मैयाको चारों ओरसे घेर लिया। उसके प्रवाह-में बह चली वह। पर इस बार गति दूसरी ओर थी—उन लहरोंका सहारा लिये वह पुनः पीछेकी ओर लौटी आ रही थी।

प्रियतमे ! क्या बताऊँ उस रूपकी बात, उस सौन्दर्यकी लहरोंकी बात, जिसे तुमने उस समय व्यक्त किया था ! ओह ! उसका ध्यान करके ही मैं विश्वमें अब तक जी रहा हूँ, और आगे भी निश्चय ही जीवित रहूँगा। ओह ! उसीकी शक्तिके प्रभाव-से मैया उस दिन जीवित बच गयी और व्रज-वन-वासियोंने मुझे अपना लिया। मैं एक-मात्र व्रज-वन-वासियोंकी ही वस्तु बन गया।

हृदयेश्वरि ! एकाग्र होकर सुनो, देख लो, अनुभव कर लो···कालके निर्लिप्त हृदयमें जो अद्भुत स्निग्धता छिपी है, मृत्युके आवरणमें जो मनोहर कृष्णता विराजित है, दो हृदयोंके पावन मिलनमें जो वक्रता परिपूर्ण है—इन तीनोंकी ही तुम्हारी अलकावलीमें एकता हो रही थी।

ओह ! यह मिलन तो क्षणिक है। इस कल्पनाके अनन्तर, भावी विरहका ध्यान होकर पुनः एक तन्मयता आ जाती है, और फिर तत्क्षण ही प्रियतम कहाँ गये—इस चिन्तनसे एक ज्वालाकी भट्ठी जल पड़ती है। उस भट्ठीमें सम्पूर्ण कल्पनाएँ जलकर तेजोमयी बन जाती हैं। कविका पाश ढीला हो जाता है। वह उन्हें अपने पाशसे बद्ध रखनेमें अक्षम हो जाता है। कल्पनाएँ मुक्त होकर उड़ चलती हैं। वही

बात संघटित हुई थी आज यहाँ भी–कविकी सम्पूर्ण कल्पनाएँ जलकर, तेजोमयी होकर, कविपाशसे उन्मुक्त होकर उड़ती हुई आयी थीं और अपने मूल देश––तुम्हारे उज्ज्वल भालसे जुड़ गयी थी ।

मेरे प्राणोंकी रानी ! किञ्चित् समाहित चित्तसे सृजनके आदिमें होने वाले खेलकी ओर दृष्टि डाल लो । तुम्हें स्मरण होगा ही––प्रकृति चंचल होकर अपने आवाससे बाहर निकल आयी थी । वह उसे ढूँढ़ने निकली थी, जिसने उसे छूकर नींदसे जगा दिया था । उस समय आँखोंसे व्यक्त होकर सत्वने उसको दीपक दिखलाया था और रजने हाथसे झर-झरकर पथको पुष्पमय बना दिया था ।

कुछ ही दूर चलकर, अभिसारके परिश्रमसे थककर प्रकृति बैठी थी, बैठकर अँगड़ाई लेने लग गयी थी । उसी समय पलककी ओटसे चुपचाप उपस्थित होकर, अंकमें भरकर तमने उससे लाड़ लड़ाना प्रारम्भ किया था, उसका मुख पोंछकर उसे सुला दिया था उसने और इस प्रकार उसको शोक-संतापसे बचा लिया था ।

वह सपना देखने लग गयी थी––अहा हा ! यह देखो ! प्रियतम तो मिल गये, किंतु तुरंत ही उसकी आँखोंमें रोष भर आया, भ्रू-कुञ्चित हो उठे । उसने दौड़कर प्रियतमको कण्ठसे नहीं लगाया । प्रियतमने उसके चरणोंका स्पर्श किया और उसके कपोलोंसे अपनी अंगुलीका स्पर्श कराकर उससे बोले—मैं तो तुम्हारे आगमनसे पूर्व ही तुम्हारी प्रतीक्षामें खड़ा था ।

प्रियतमकी बात सत्य थी । प्रकृतिका मान टूट गया, वह बड़े ध्यानसे, प्रियतमकी मधुर वाणीको सुनने लगी । इतनेमें प्रियतमका निरुपम रूप उसकी आँखोंके अन्तरालसे जादू करने लग गया—उसके दृग बंद हो गये, सुस्थिर हो गये । और तो क्या, घ्राणसे निस्सरित होने वाले प्राण भी प्रियतममें जाकर मिल गये—एकमेक बन गये दोनोंके प्राण ।

इस प्रकार एक अद्भुत बङ्किमा, अप्रतिम एकाग्रता, निरुपम निस्पन्दता और अपने प्राणेश्वरसे प्राणकी उत्कृष्टतम एकातमता—जो अचानक रागके बढ़ते हुए प्रवाहके कारण– उसमें आविर्भूत हो गयी थी, ये सब-की-सब चीजें, अहा ! उसे तुम वृषभानुनृपनन्दिनीसे, तुमसे, तुमसे ही प्राप्त हुई थी, तुम्हारी भौंहोंसे, तुम्हारे श्रुतियुगलसे, तुम्हारे नयन-सरोरुहोंसे, तुम्हारे नासाश्वाससे ही उसे यह अप्रतिम दान मिला था भला ।

प्राणेश्वरि ! सुनो ! महाप्रलयकी बेला थी। सब ओर अंधकार भरा था। जीवका नित्यसङ्गी उसकी अहंता मानो मर-सी गयी थी। जब चेतनताका यत्किञ्चित् विकास होता, तब भी वह विक्षिप्त-सा ही बना रहता। कभी प्राज्ञमें मिलकर, कभी तेजससे एकात्मता स्थापित कर वह कुछ-का-कुछ बनता जा रहा था। उस समय उसका एक मित्र अवश्य ही उसके साथ था—खरे सोनेके सदृश था वह मित्र।

हृदयेश्वरि ! सच्ची बात है, सर्वत्र अँधेरा-ही-अँधेरा होने पर भी उस अमाके नीले अंचलमें छिपा हुआ विश्वास उसका साथ न छोड़ सका था। खरे मित्र की भाँति उसके प्राणोंमें यह विश्वास ही नवीन-नवीन उल्लासका सृजन कर देता था—अरे ! अँधेरा निश्चित ही मिट जायेगा, उषा निश्चय ही उसका स्वागत करने आयेगी ही। उसके परम सखा विश्वासमें तनिक भी संशयकी छाया-की-छाया तक नहीं थी भला ! इसीलिये उसके होंठ पर, गालों पर जो फुल्लता नाच उठती थी, स्पष्ट दीख जाते थे फुल्लताके चिह्न—यह सब सचमुच तुम्हारे अधरों, कपोलोंकी विकसित फुल्लताका ही प्रतिबिम्बमात्र था प्राणेश्वरि !

अहो ! जीवकी कैसी भ्रान्त दशा होती है ! क्या-से-क्या वह सोच लेता है प्राणेश्वरि ! तनिक सोचकर देखो—कोई सुन्दर युवक खड़ा है। कोई सुन्दर युवती खड़ी दीख गयी। बस, भ्रान्त जीव भूल जाता है इतनेमें ही अपनेको, अपने स्वरूपको। सोचने लगता है—अभी यहाँ कौन-सा व्यक्ति कामदेवकी भाँति सुन्दर खड़ा था ? कौन था वह ? और वह जो अभी युवती थी, वह कौन थी ? रतिके समान सुन्दरी थी वह !—जीव इस भाँति संकल्प करके क्षुब्ध हो उठता है प्राणोंकी रानी ! अभी-अभी तुम्हारे अवतरणसे पहले प्रायः सबकी दशा ऐसी ही थी, देवी-देवता भी इस संकल्पमें डूबते-उतराते हुए अत्यन्त क्षुब्ध हो रहे थे। कामकी ध्वजा लिये, अणिमादि साधक भी, सिद्धतक भी चञ्चल हुए घूम रहे थे—यद्यपि यहाँ कमनीयताकी गन्ध तक भी नहीं है। लेश मात्र भी, कहीं भी सौन्दर्यकी कोई भी सत्ता नहीं है। तब भी इस प्रकारकी आँधीमें सभी बह रहे थे।

अहा ! देखो सही ! इसकी ग्रीवा कितनी सुन्दर है ! भुजा हृद्देश कितने मनोहर हैं ! नाभि, कमर, चरण, सब-के-सब मानो फूलोंसे बने हैं।—इस प्रकार सब-के-सब संकल्पके झंझावातमें पड़कर, उससे लुब्ध होकर दुःखको ही वरण कर रहे थे। दुःख ही उनके हाथ लगता था, क्योंकि वे अपने जीवन के मूल तत्त्वको भूल गये थे। किन्तु अहा ! अचानक उन सबका भाग्य जाग उठा। उन सबका संसरण

सदाके लिए समाप्त हो गया। हे दयामयि राधे ! तुमने प्रकट होकर उनको बचा लिया, तुमने उनको शरण दे दी !

मेरे प्राणोंकी रानी ! जीव तुमको देखते ही चेत गये। जो जगत्में भ्रमित हो रहे थे, उनमें तुम्हें देखते ही—ज्ञानका प्रकाश हो गया। सत्य क्या है, यह वे समझ गये। उनकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया—ओह ! अनन्त अपरिसीम सौन्दर्यके पुञ्ज तुम्हारे कण्ठ देशकी, तुम्हारे उरःस्थल की, तुम्हारे कर-युग्म की, उदरदेश, कटितट, चरणसरोरुह एवं शेष अङ्गोंकी छायासे ही मोहमय सौन्दर्यकी भ्रान्ति मायाकी वस्तुओंमें हो रही थी। तुम्हारे श्री अङ्गोंका सौन्दर्य ही, सौन्दर्यकी छाया-की-छाया ही मायामें संक्रामित हो गयी थी और उन सत्ताहीन मायाकी वस्तुओंमें सुन्दरताकी भ्रान्ति उत्पन्न कर दे रही थी।

सारिका इतना कहकर, शुककी ओर दृष्टि डालकर कुछ रुककर बोली—अहो ! कीर ! इतना कहते-कहते प्रियतम गद्गद हो गये, उनका शरीर पुलकित हो गया, वाणी रुद्ध हो गयी, कुछ क्षणतक वे बोलना स्थगित कर गम्भीर मुद्रामें निस्पन्द अवस्थित रहे, कुछ ठहरकर ही आगेकी बात बतलानेमें समर्थ हुए। अस्तु,

प्राणवल्लभे ! तुम्हारे उस रूपकी अनोखी लहरोंमें ही बहती हुई मेरी मैया किनारे पर आ लगी। उसका कण-कण विस्मय-से परिपूर्ण था। फिर मुझे थपकाकर, अपने कलेजेपर रखकर, तुम्हारी मैया कीर्तिदा महारानीके चिबुकको छूकर हँसती हुई उनसे बोल उठी—तुम्हारी मैया और मेरी मैया, दोनों सखी जो ठहरी। अस्तु,

मेरी मैया ने कहा—क्या उस घटनाका तुम्हें स्मरण है बहिन ? कलिन्द-नन्दिनीके घाट पर वह घटना घटी थी। उस दिन अक्षय तृतीयाका पुनीत पर्व लग रहा था। तुम थककर खड़ी हो गयी थीं। तुमको पालकीपर चढ़कर चलना स्वीकार नहीं था। मन-ही-मन तुम सोच रही थीं—'महर्षि भागुरि तथा गर्ग ऋषि की तुष्टि तो उनके पास पैदल चलकर जानेसे ही होगी।' वे दोनों तुम पर प्रसन्न रहें—मात्र इतना-सा ही तुम्हें अपेक्षित था।

इसीलिये उस दिन तुम नौ कोस पैदल चलकर आयी थीं। मैं निरन्तर तुम्हारे साथ थी। संयोगकी बात, और कोई भी साथ नहीं चल पायी। उस दिन भानुपुर एवं नन्दग्रामकी गोपियोंकी अपार भीड़ थी। पर अब सब भीड़ छँटकर

यमुनाका तटदेश बिलकुल शान्त हो चुका था। जहाँ हम दोनों खड़ी थीं, वहाँ शैवालिनीकी धारा निस्पन्द-सी होकर बह रही थी।

उसी समय कीर्तिदा बहिन ! तुमने मुझको खींचकर अपने गलेसे लगा लिया था। हाथमें जल और फूल लेकर तुम इस प्रकार बोलने लग गयी—नन्दरानी ! भगवती पौर्णमासीके वचन सर्वथा अविचल हैं। शेषनाग भले ही डिगकर हिल उठे, मेरु पर्वत भी हिल जाय, पर पौर्णमासी भगवतीके मुखसे निकले वचन तो अविचल ही रहेंगे।

'सुनो बहिन ! तुम्हारे इस गर्भमें पुत्ररत्न ही विराजित है, और मैं किसी शुभ दिनके आने पर कन्याका प्रसव करूँगी। इसका कुछ इतिहास बड़ा ही गुप्त है, बस, मैं महीना गिन रही हूँ। मेरे पतिदेव महाराज वृषभानुके पाप छू तक नहीं गया है। इसीलिये उनको तो पूरा-पूरा इस इतिहासका पता है।

अस्तु, बहिन मैं भानुतनुजाके तीर पर खड़ी होकर संकल्प कर रही हूँ, यह अत्यन्त अतुल पुण्यमय वेला है, इस समयका संकल्प सत्य होगा—यहाँ मेरे उदरस्थल-में श्रीदामकी जो बहिन विराजित है, वह तुम्हारे गर्भस्थ शिशुके प्राणोंसे निरन्तर जुड़ी रहकर ही जन्म धारण करे भला !'

अचानक आकाशमें 'जय-जय' की ध्वनि उस क्षण ही गूँज उठी। उस समय बहिन कीर्तिदा ! तुम और मैं—दोनों चकित हो देखने लग गयी थीं कि यह ध्वनि कहाँसे आ रही है। किन्तु न तो कोई ऊपर दीखा, न पीछे की ओर कोई था, सामने भी कोई नहीं दीखा। फिर तो हम दोनों ही एक दूसरीके कण्ठसे लगकर, हँस-हँसकर नाचने लग गयीं।

सारिका कहने लगती है—नन्दरानीकी उक्ति सुनते ही आनन्द की सुमधुर लहरी रानीके चारों ओर बिखर गयी। कीर्तिदा महारानी रसमुग्ध हो गयीं। उनका कण्ठ भर आया। अपना सम्पूर्ण धैर्य एकत्रित कर कीर्तिदा महारानी, बस, इतना ही बोलनेमें समर्थ हो सकीं—'नन्दगेहिनी ! देखो ! यहाँ मेरे आगे सुमनकी कलिका पड़ी हुई है। सखी ! सत्य कह रही हूँ—तुम्हारे अंकमें जो सोया हुआ बालक है, वही इस सुमनकलिकाका भ्रमर है।'

सारिका कहती ही चली गयी—इसके अनन्तर जो उस समय कृत्य होने चाहिये थे, वे सब-के-सब विधि-विधानसे सम्पन्न हुए। बीस दिनतक भानुपुर एवं

रावल ग्रामके राजा व्रजराज ही थे। इसके पूर्व व्रज-वनवासियोंने जो कभी न देखे थे न सुने थे, ऐसे उत्सवके नवीन-नवीन स्रोत नित्य प्रवाहित हो रहे थे।

किन्तु मेरी प्राणेश्वरी ! राधे !! आज तो उसकी अपेक्षा भी बहुत अधिक आनन्द व्रजपुरमें लहराता हुआ दीख रहा है। व्रजसुन्दरियाँ भूल गयी हैं कि कौन कहाँ पर बैठी है। आज जहाँ, जिस गोप-गोपीको देखो—प्रत्येक व्यक्ति ही आनन्दमत्त हो रहा है। और सच तो यह है प्राणेश्वरि ! इस दृश्यको देख-देखकर मैं यहीं बैठे-बैठे आनन्दसे विक्षिप्त हो रहा हूँ।

'तो प्रियतमे ! हम दोनों भी वहाँ चलें'—इस प्रकार प्रियतम नीलसुन्दरमें उत्कण्ठा जाग्रत हुई।

वे प्रियतमा राधाके प्रति अपना मनोरथ निवेदन करने लगते हैं।

प्रियतमा सम्मत हो जाती हैं।

प्रियतमके साथ चल पड़ती हैं।

'जैसे हम दोनोंकी निकुञ्जमें नित्यस्थिति है, वैसे ही सर्वथा पारस्परिक अभिन्नता होनेके कारण प्रकाश रूपसे तुम्हारा वृषभानुपुरमें तथा मेरा बृहद्वनस्थ गोकुल ग्राममें और वृन्दाकाननमें नित्य निवास रहता है। नित्य क्रीड़ा भी चलती ही रहती है'— इस प्रकार प्रियतमका पथमें चलते समय तत्त्व-प्रवचन होता है।

इसके अनन्तर प्रियतम नीलमसुन्दर अपने जन्ममहोत्सवका स्मरण दिलाते हुए कहने लगते हैं— प्राणवल्लभे ! अभी मेरी जन्मगाँठकी तिथिको निमित्त बनाकर जो धूम मची थी—आजसे पन्द्रह दिन पहलेकी ही तो बात है—उस उत्सवमें सभी आये थे। वृषभानुपुरकी एक भी माता नहीं बची थी, जो आकर मुझे आशीर्वाद देती हुई यह न बोली हो 'मेरे लाल ! तेरा एक भी केश न टूटे भला।'

और फिर जैसे प्रतिपदासे आरम्भ कर द्वादशीपर्यन्त मानो राजाके पदपर महाराज वृषभानु सुशोभित थे और मेरे पिता नन्दबाबा, जैसे उनके दास हों, ऐसा आचरण कर रहे थे, महाराजा वृषभानु जो भी कह देते, मेरे पिता वही आनन्दमें निमग्न होकर करने लगते थे। वृषभानु कहीं भी जायँ, मेरे बाबा उनके सदा साथ ही रहते थे।

'क्या, कब, किस प्रकार हो'—इस प्रकारकी चिन्ताओंसे मेरे बाबा इतने दिनोंके लिए मुक्त हो गये थे। अकेले वृषभानु बाबा ही सम्पूर्ण व्यवस्था करते थे, व्यवस्थाकी सँभाल करते थे। देवता भी दोनोंका पारस्परिक प्रेम देखकर स्तब्ध हो गये थे। दोनों ही मित्रता एवं भ्रातृत्वका आदर्श बने हुए थे।

और अन्तःपुर इस बातका अप्रतिम निदर्शन बना हुआ था कि एक सखीके प्रति दूसरी सखीके मनमें कैसा विचित्र अपनापन भरा होता है! गोपसुन्दरियोंके मनमें, निर्मल प्रीति कैसी होती है, इसकी प्रेरणा उपर्युक्त उन दोनों सखियोंको देखकर ही प्राप्त हुई थी। सौहार्दकी वह साधना उनके प्राणोंमें जा बसी थी भला।

'इस भवनकी स्वामिनीं तो वृषभानुमहिषी हैं'—यह निर्मल भाव मेरी मैयामें इस प्रकार अचल रूपसे प्रतिष्ठित हो गया था कि जिसको देख-देखकर स्वयं कीर्तिदा महारानी भी विकल हो उठती थीं, भावविह्वल हो जाती थी कीर्तिदा मैया और उनकी आँखोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बहता रहता था।

जिसको जो कुछ भी देना होता तथा जिसका जो उपहार स्वीकार करना होता—यह सब काम वृषभानुगेहिनी ही अब दिन-रात वहाँ करती थीं। मेरी मैया-में तो एक सरस विस्मृति निरन्तर जाग्रत रहती—वह यह बात तक नहीं जान पाती थी कि कुल-कुटुम्बका कौन व्यक्ति कब आया।

बस, वह तो मुझे और तुमको, एक कलामयी प्रतिमा-सी बनी रहकर देखती रहती थी। जब मैं जाकर उसे छेड़ता--'री मैया! मैं गाय चराने जाऊँ क्या? तनिक तू बतला तो भला?' तब वह हँसकर बोलती-- 'मेरा साँवला लाल! तू जाकर कीर्तिदा रानीसे पूछ ले। यदि वे कह दें तो चला जा।'

किन्तु मेरे प्राणोंकी रानी! यही क्रम आज ठीक उलट गया है। मेरे बाबा तो राजा बने हुए हैं। और आज वृषभानुपुरकी रानी मेरी मैया बनी है। आज आठ दिनोंसे भावने निरन्तर भानु-भवनके सामने, अन्दर, ऐसे जाल बिछा दिये हैं, जिनका दर्शन, और तो क्या—कभी चन्द्र-सूर्यको भी अबतक नहीं हुआ था।

सारिका किञ्चित् रुककर दुगुने उल्लासमें भरकर फिर बोल उठी। इस प्रकार कहकर नीलसुन्दर हँसते हुए तोरणद्वारके समीप आ उपस्थित हुए और वहीं-से अद्भुत वृषभानुभवनका दर्शन करके अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठे।

इसके पश्चात् पाँच द्वार पार करनेके अनन्तर नीलसुन्दर वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ सब लोग देवाराधनमें संलग्न हैं, उनके आनन्दका पार नहीं रहता है, यह दृश्य देखकर।

वहीं खड़े-खड़े वे अपने आप ही अपना ही रूप देखने लग जाते हैं— नन्दपुत्र-के रूपको, वृषभानुनन्दिनीके रूपको ! अहा ! सर्वथा अप्रतिम सुन्दर दोनोंका रूप था। दोनों रूप क्षण-क्षणमें नवीन होते जा रहे थे।

इसके अनन्तर वे देवगणोंकी दिव्य आराधनाका दर्शन करने लगे। उनका अपना ही रूप—नन्दनन्दनका रूप पद-पदपर परामर्श दान कर रहा था।

पूजाका क्रम यह था—राजपुत्री वृषभानुनन्दिनीकी मङ्गलकामनासे व्रजेश्वरी नन्दरानी एवं भानुपुरेश्वरी श्रीकीर्तिदा महारानीके द्वारा सर्वप्रथम गणेशकी पूजा हुई।

फिर व्रजराज एवं भानुपुरेश महाराज वृषभानुके द्वारा जगद्गुरु श्रीदक्षिणा-मूर्तिकी पूजा सम्पन्न हुई।

तदनन्तर महाराज वृषभानुके द्वारा अपनी कुलदेवी महामाया जगज्जननी योगमाया भगवती श्रीमन्महात्रिपुरसुन्दरीका समाराधन हुआ।

व्रजेश एवं भानुपुरेशके द्वारा जगदम्बाके सहित सदाशिवकी अर्चना हुई। और उन्हींके द्वारा श्रीमन्नारायणका समर्हण भी हुआ।

भानुपुरेश्वर महाराज वृषभानुने श्रीसूर्य का स्तवन किया।

व्रजेश्वरी नन्दरानी एवं भानुपुरेश्वरी कीर्तिदा महारानीके द्वारा कलिन्दनन्दिनी-की स्तुति हुई और अंतमें व्रजेश्वर एवं भानुपुरेश्वरके द्वारा श्रीगिरिराज गोवर्धनकी वन्दना शुरू हुई।

इस प्रकार अर्चनाका समापन करके अब सभी भानुमहाराजकी प्रजाको निमन्त्रित करनेके लिए चल पड़े। शुभ योग लग चुका था। पौ बस, फटने ही जा रहा था।

सच बात तो यह है कि व्रजपुरके वे काल और देश प्रतीक्षा करते रहते हैं — अभी-अभी नन्दके लालके मनमें किस संकल्पका उदय हुआ है, वे क्या संकल्प कर रहे हैं।

सारिकाने बड़े स्नेहसे शुककी ओर देखा और पुनः कह उठी—सुनते हो शुक ! नन्दलालके संकल्पके अनुरूप ही व्रजपुरके देश-काल अपना रूप धारण कर लेते हैं। वे वैसे ही साँचेमें ढल जाते हैं। और यह भी सत्य है कि उनके स्वरूपमें कभी विकृति नहीं होती। वे तो व्रजकुलचन्द्र नन्दनन्दनके स्वरूप ही जो ठहरे।

अस्तु, चलनेके समय लोगोंकी अवस्थिति निम्नाङ्कित प्रकारसे हो रही है। सबसे आगे अञ्जलि बाँधे व्रजराज नन्द चल रहे हैं।

ठीक उनका अनुसरण करते हुए वैसे ही अञ्जलि बाँधे महाराज वृषभानु चल रहे हैं।

उनके पीछे अपने दाहिने हाथको नित्यनिकुञ्जेश्वरि वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके कण्ठदेशका आभूषण बनाये नन्दरानी चली जा रही हैं।

राधाकिशोरीके दक्षिण पार्श्वमें उनकी बहिन मञ्जुश्यामा जा रही है।

मञ्जुश्यामाके दाहिने सखियोंका समूह चला जा रहा है।

व्रजेश्वरीके वाम पार्श्वमें नन्दनन्दन हैं।

नन्दनन्दनसे बायीं ओर श्रीरोहिणी मैया हैं।

रोहिणी मैयाके वामभागमें श्रीबलराम हैं।

बलरामके बायीं ओर श्रीदाम हैं।

उसके वामपार्श्वमें गोप-शिशुओंके साथ सुबल और मधुमङ्गल हैं।

व्रजेश्वरीके पीछे-पीछे भानुपुरेश्वरी कीर्तिदा महारानी जा रही हैं।

उनके वामपार्श्वमें कीर्ति मैया है।

उनके वाम भागमें तथा कीर्तिदा मैयाके दक्षिण भागमें राधाकिशोरीकी ताई एवं चाची वर्गकी स्त्रियाँ चल रही हैं।

कीर्तिदा मैयाके पीछे-पीछे राधाकिशोरीके ताऊ एवं चाचा वर्गके गोपगण है।

इनके पीछे-पीछे चलने वाली राजकुलकी सेविकाएँ हैं।

सेविकाओंके पीछे राजकुल-सेवक-दल है।

अष्टम पंक्तिकी रचना करते हुए भानुपुर-राजमंत्रीके बायें कंधेपर हाथ रख-रखकर भाइयोंके साथ उपनन्दजी जा रहे हैं।

तथा राधाकृष्णसे सर्वथा एकत्वकी स्थापना किये हुए एवं निमंत्रणके उद्देश्यसे जानेवाले प्रत्येक व्यक्तिके ही पीछे-पीछे चलते हुए, फिर भी सबके अलक्षित बने हुए नित्य-निकुञ्जेश्वरीके सहित श्रीकुञ्जबिहारी चले जा रहे हैं।

इस प्रकार चलते हुए जिस गोपके घर गायोंकी संख्या सबसे कम थी, उसके निवासस्थलपर नन्दरायजी सम्पूर्ण मण्डलीको लिये हुए जा पहुँचे।

उस ओर कुञ्जेश्वरी राधाके हृदयमें भावकी एक नयी धारा बह चली। राधाकिशोरी अनुभव करने लगीं कि सर्वत्र ही केवल-केवल प्रियतम नित्य निकुञ्जेश्वर ही खड़े हैं और यहाँ कुछ भी नहीं है-- किशोरी इस वृत्तिमें परिनिष्ठित हो जाती हैं। बड़े अचरजकी बात यह थी कि राधाकिशोरीके श्रीअङ्गका पीत वर्णतक सचमुच श्याम वर्ण हो गया।

अस्तु, फिर राधाकिशोरीको अनुभव होने लगा कि एक रूपसे तो ये मेरे पास ज्यों-के-त्यों खड़े हैं और ये ही मेरे प्राणनाथ आज तो अगणित होकर—स्वयं अपने रूप-में ही अकेले विराजित हो रहे हैं! और देखो—आनन्दमें मत्त होकर झूमते-से चले जा रहे हैं। सामने भानुपुरका गाँव है। इसीके सामने आकर अब वे रुक गये हैं, चलना स्थगित कर दिया है; पर बोल कुछ भी नहीं रहे हैं—मौन व्रत धारण कर लिया है इन्होंने!

उस ओर इतनेमें ही नीलसुन्दर राधाकिशोरीके स्कन्धदेशको हिलाकर बोल उठे—'प्रियतमे! देखो सही व्रज सुन्दरियाँ उपहारमें तुमको क्या दे रही हैं, भला!'

राधाकिशोरी अविलम्ब ही उत्तर देती हुई बोल उठी—'प्राणरमण! मैं तो केवल-केवल केवल तुमको ही देख पा रही हूँ।' प्रियतमाको इस प्रकार बोलते देखकर प्रियतमासे प्रियतम नीलसुन्दर कह उठते हैं—'प्राणप्रिये! देखो तुम्हारी आँखोंमें, तुम्हारे सम्पूर्ण रोमकूप में, भावका समुद्र लहरा रहा है। सर्वथा भावमयी तुम बन गयी हो। और इसीलिये अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें तुम्हारी दृष्टिमें केवल मैं-ही-मैं विराजित हूँ। तुम्हारी ऐसी ही दृष्टि आज अपने पिताके राज्यमें—पिता-के गाँवमें इस समय भी हो रही है।

तथापि मुझे सुख देने के लिए ही मेरी कही हुई बातोंको तुम्हें सुन लेना चाहिए और उसका कुछ अंश अपनी आंखोंसे देख भी लेना चाहिये।

प्राणोंकी रानी ! मुझे अपार सुख हो रहा है आज मैं कृत्यकृत्य हो गया। मैं तो तुम्हारा भृत्य हूँ, यह चरित्र देखकर आज तुम्हारा यह भृत्य धन्य हो गया प्रियतमे !

प्रियतमे ! हमारे सजाए हुए दृश्योंको तुम भले मत देखो, किन्तु कृपा करके इसका अत्यन्त पवित्र वर्णन तो सुन ही लो।'

इसके पश्चात् प्रियतमा राधाकी सम्मति देखकर वहाँ राजपुत्रीका दर्शन करने से वृषभानुपुरकी प्रजामें भावोंकी कैसी विकलता प्रकट हुई थी, इसे वर्णन करनेके अनन्तर विस्तारसे सम्पूर्ण उत्सवके विभिन्न दृश्योंका नीलसुन्दर वर्णन करने लगते हैं।

त्रयोदशीपर्यन्त कैसे क्या हुआ था, सब सुना जाते हैं।

यह सब सुना लेनेके अनन्तर जब वे पुनः निकुञ्जकी ओर लौटने लगते हैं तब प्रियतमा राधासे सहसा कह उठते हैं—'प्राणेश्वरी ! राधे ! वह जो सामने ग्राम एवं तालाब दीख रहा है, उनकी बातें तुम्हें स्मरण हैं ?—हृदयेश्वरी ! यही वह जावट ग्राम है, हाय रे ! यहाँ रहकर तुम ऐसे जल रही थीं, आगकी ऐसी लपटें तुम्हे घेरे हुई थीं, जिसकी उपमा न तो अबतक हो सकी है, न है। ओह ! योगमायाके द्वारा निर्मित उस समय सौ वर्षकी वह विपत्तिकी रात्रि थी। शोकसे जल-जल कर तुम्हारे मुँह से निकली हुई आह' ही गीत बन जाती थी भला !'

इसके अनन्तर यमुना तीरकी वटवेदीके समीप नील-गौर दम्पत्ति पहुँचते हैं, विराज जाते हैं उसके आलबालके समीप ही दोनों। चकित-सी हुई प्रियतमा राधा प्राणरमण नीलसुन्दरसे पूछ बैठती हैं—'प्राणरमण ! मेरी मैया कहाँ चली गयी ? मेरे बाबा कहाँ हैं ? और कहाँ मेरी छोटी बहिन मञ्जुश्यामा है ?' इस प्रकार पूछती हुई प्रियतमा राधाके प्रति नीलसुन्दर रहस्योद्घाटन करते हैं—हृदयेश्वरि ! कीर्तिदा महारानी, महाराजा वृषभानु और मञ्जुकृष्णा नामकी जो, वृषभानु महाराजकी छोटी पुत्री है—यह सब मैं ही तो बना हुआ हूँ प्रियतमे ! सुनो, गोष्ठीकी सब वस्तुएँ, तुम्हारे चरण-सरोरुहका नित्यदास जो मैं हूँ, उसीकी तो नित्यकृति हैं।

जैसे वृहत्सानुपर्वतके राज्याधिपति महीभानु, उनकी अर्द्धाङ्गिनी सुषमा देवी—सुषमाको ही सुखदा भी कहकर लोग पुकारते हैं—तथा उस ओर रावलके राजा

विन्दु महाराज, उनकी पत्नी जो ज्योति नामसे परिचित हैं, किंतु बचपनसे सब कोई उसे मुखरा कहकर पुकारते हैं—इन सबके शरीरोंमें अधीष्ठित होकर, उनके शरीरोंको चिन्मयत्व प्रदान कर, स्वयं नीलसुन्दर ही वृषभानुरूपसे, कीर्तिदा महारानी रूपसे, आविर्भूत हो गये थे—यहाँसे आरम्भ कर नीलसुन्दरने विस्तारसे सम्पूर्ण गोष्ठ-लीला का वर्णन कर दिया।

इस प्रकार वर्णन करके प्रियतमाको अंकसे लगाकर नीलसुन्दर कहते हैं—प्राणेश्वरी ! देखो उस कुञ्जमें आकुल होकर 'जय-जय' का रव भरती हुई, तान लेकर गाती हुई वह सारिका तुमको पुकार रही है।

सुनते ही प्रियतमा चल पड़ती हैं और कुञ्जमें पदार्पण करती हैं।

पहुँचते ही अपने ही भावाविष्ट स्वरूपपर दोनोंकी दृष्टि चली जाती है।

दोनों ही हँसकर अविलम्ब उसी स्वरूपमें जा मिलते हैं। बस, प्रियतमकी आँखें खुल जाती हैं। कातर सारिकाको अवलम्ब प्राप्त हो जाता है।

सारिका उल्लासमें भरकर कहने लगती है—'तोता ! अहो ! फिर वे प्रियतमा-का श्रीमुख देखकर जैसे अधीर हो उठे थे और इसके अनन्तर जिस भाँति स्वामिनी जग उठी थी—यह सब तो तुमने स्वयं देखे ही हैं।

'तो क्या दम्पतिके द्वारा देखी हुई ये सब बातें स्वप्नवत् मिथ्या हैं ?'—शुक तुरन्त ही इस भाँति प्रश्न कर उठा और उसके उत्तरमें सारिका बोल उठी—'कीर ! देखो, दम्पत्ति-युगल जिस समय जो भी देखते हैं, वह सब-का-सब ज्यों-का-त्यों सत्य है। युगल दम्पति स्वयं नित्य सत्य हैं, सत्यमय इनमें ही भूत और भविष्य—दोनों ही प्रतिष्ठित हैं। सत्यका प्रत्येक संकल्प भी उसका रूप ही होता है भला ! वह उससे भिन्न कदापि नहीं है। सर्वांशमें वह आप-ही-आप नित्य विराजित है।'

सारिकाके वचन श्रवण मात्रसे शुक भावसमाधिमें डूब जाता है।

नीलसुन्दर प्रियतम शुक पंछीको उठाकर अपने अंकमें विराजित कर लेते हैं।

सहसा सारी बोल उठी—'स्वप्नावस्थामें अवस्थित राधिका दयिता वेशमें विराजित श्रीकृष्णकी रक्षा करें। मञ्जुश्यामाका रूप धारण करने वाले नीलसुन्दर
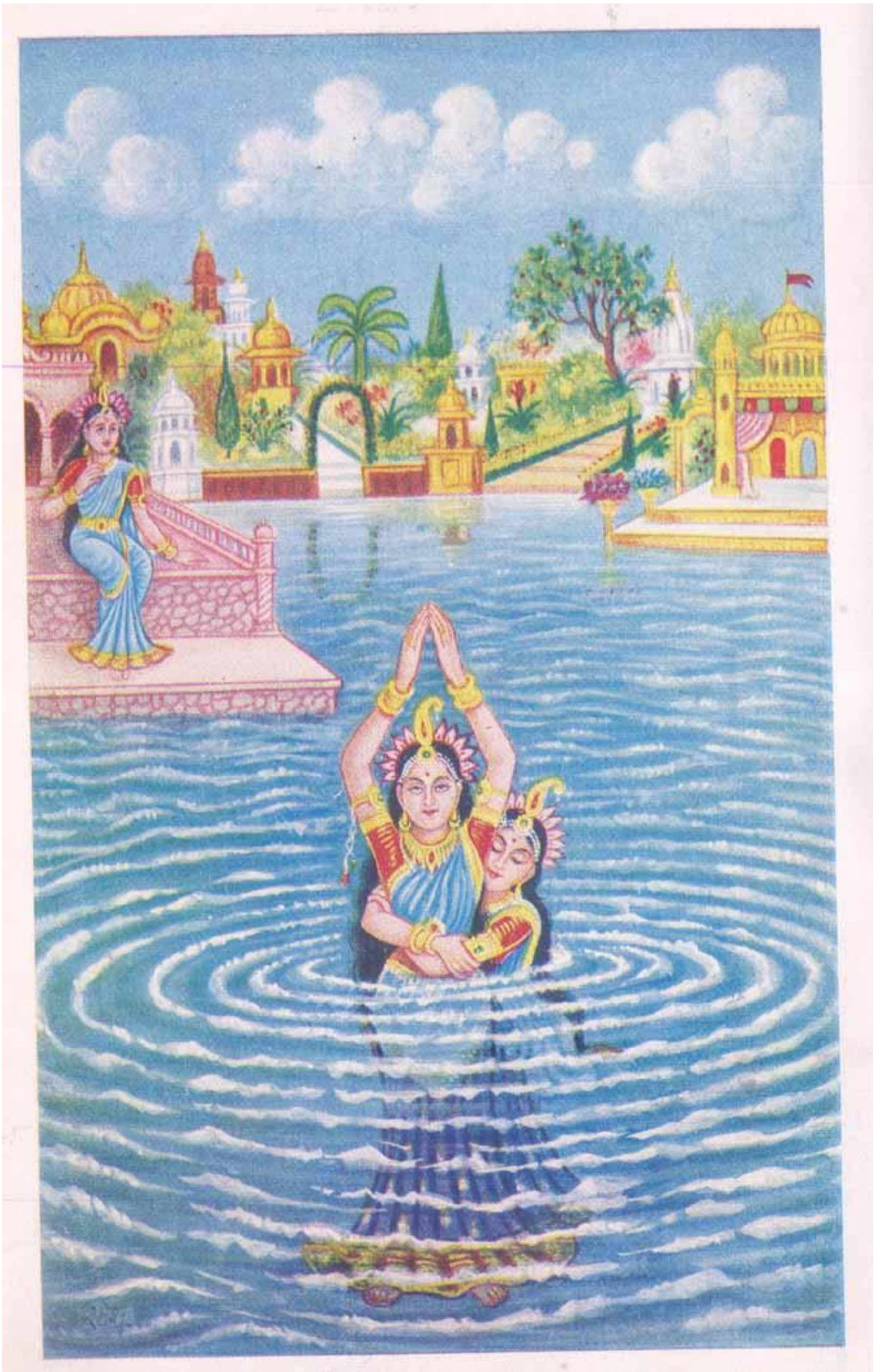
वल्लभाके कुन्तलोंकी रक्षा करें'—इस प्रकार कहती हुई सारिका नित्य निकुञ्जेश्वरी-के चिकुरोंमें समा जाती है। उनसे एकता लाभ कर लेती है।

उसके अनन्तर तुरंत ही शुक पक्षी नीलसुन्दरके कुन्तलोंमें समा जाता है। उन कुन्तलोंसे एकत्व प्राप्त कर लेता है।

अब वहाँ कोई श्रोता नहीं है। और न अब कोई गायिका है। केवल मात्र प्रियतम नीलसुन्दर और प्राणाधिका श्रीराधा ही विराजित हैं। हाँ, तनिक-सा अन्तर अवश्य है, पर इसे एकमात्र पट-परिवर्तन करने वाली अघटघटनापटीयसी योगमाया देख रही हैं— नीलसुन्दर कृष्ण तो राधा बने हुए हैं और राधाकिशोरी माधव बनी हुई हैं।

पुरट-पात्रका पर्यवसान
नीलिमाकी ऊर्मियोंमें....

देखो ! देखो !! देखो !!! अरे ! एक बड़ी सुन्दर गोपी आयी है। उसके सिरपर दहीका मटका है। लहँगा पहरे है। अरुण कञ्चुकी है उसकी। ओढ़नी—सिरपर दहीका मटका लिये रहनेके कारण—सिरसे चिपकी पड़ी है। ओढ़नीके दोनों छोर मन्द समीरके झोकेमें किंचित हिल रहे हैं। किंतु बिल्कुल उन्मादिनी है यह गोपी !

अहा ! हाँ !! कितना सुन्दर नन्दग्रामका दृश्य है। उसके राजपथपर वह गोपी दौड़ रही है। यह लो ! मटका सिरसे गिर गया, फूट गया, दही बिखर गया। गोपीको कोई भान नहीं मटका फूटनेका, दहीके गिर जानेका। दही बेचने आयी हूँ, यह भी भूल गयी है वह ! बस, पुकार रही है—'गोपाल लो ! गोपाल ले लो !! गोपाल लो !!! गोपाल ले लो !!!! गोपाल लो।'

देखो ! देखो ! गोपीके पिता उसके पीछे दौड़े जा रहे हैं। 'बेटी ! बेटी !' कहकर चिल्ला रहे हैं। किंतु गोपीको तो विश्वका कोई ज्ञान ही नहीं है। 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल' की ध्वनि निरन्तर उसके मुखसे निकल रही है। और ओह ! इस गोपीके मुखसे निकले गोपाल-नामका कैसा विचित्र प्रभाव है। उस नाम-श्रवणसे उसके पिताकी देहमें जड़िमाका विकार व्यक्त हो गया है। वे चेष्टा शून्य, ज्यों-के-त्यों खड़े हैं और गोपी—दूर, दूर, न जाने कितनी दूर चली गयी है।

वह देखो ! फिर वह लौटी आ रही है इधर ही। 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल', की ध्वनिसे नन्दग्राम मुखरित होने लग गया। 'गोपाल', 'गोपाल' कहती हुई वह तैलिक, ताम्बूलिक-हाटकी ओर चली जा रही है।

युवतियोंका एक दल एकत्र हो गया है। आश्चर्यचकित सभी देख रही हैं। एक युवती उस गोपीसे कह रही है—'अरी ! इस प्रकार तू चिल्लाकर अपने कुलमें कालिख क्यों पोत रही है री !' किंतु गोपीके कानमें यह सीख तो अब जानेसे रही। उसे भान ही नहीं है कि मैं कहाँ हूँ।

एक अधेड़-वयस्का युवती आगे बढ़कर उसे रोकना चाहती है। पर यह लो! उसे छूते ही, गोपीको स्पर्श करते ही युवतीके शरीर में कम्पका विकार हो जाता है। थर-थर नाच रहा है उस युवतीका शरीर। और गोपी तो आगे बढ़ गयी।

अब देखो! वह पूर्व की ओर दौड़ती आ रही है। राजपथसे नहीं, उस वीथीसे—जो कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहकी ओर जाती है। और उस गोपके घरके द्वारपर रुककर वह गोपी पुकार रही है—'गोपाल! गोपाल!! गोपाल!!! गोपाल!!!!'

अब देखो! यह यमुनाके उस अर्द्धवृत्ताकार मोड़पर आ गयी। एक उज्जवल-वसना युवती उसके सामने खड़ी हो जाती है। 'अब देखती हूँ, तू आगे कैसे बढ़ती है—कर्कश स्वरमें उसने गोपीको रोकना चाहा। किंतु यह लो! उस उज्जवलवसना युवतीमें भी गोपाल नामका प्रभाव व्यक्त हो गया। जड़िमाने उसे आत्मसात् कर लिया। 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल, की रट लिये गोपी आगे बढ़ गयी।

अब देखो! वह सितकेशी धवलवसना वृद्धा गोपी उसे रोककर समझा रही है—'बेटी! सात दिन हो गये री! तेरी ऐसी दशा है; तुझे क्या हो गया मेरी बेटी!……' 'गोपाल', 'गोपाल', कहकर गोपीने अपना मुख फेर लिया। वृद्धकी आँखोंसे दर-दर अश्रुप्रवाह बह चला। अरे! आज तो वह वृद्धा भी बेटीके बदले 'गोपाल! गोपाल!!' चिल्लाती हुई गोपीके पीछे दौड़ी जा रही है। कैसा विचित्र प्रभाव है इस गोपीके मुखसे निकले गोपाल नामका।

अब देखो! अधेड़ युवतियोंके एक दलने उसे घेर लिया। समझाने लगी उसे; दलमें जो सबसे बड़ी थी, वह—'अरी! तू सोच तो सही, इसमें तेरे लोक-परलोक—दोनों ही नष्ट हो रहे हैं।'

दूसरी कह रही है—'बावरी! पथ-कुपथ देखकर चलना चाहिए। इसमें ही लोक-परलोक दोनों बनते हैं। और नहीं तो।'

तीसरी कह रही हैं— 'तू कितनी सयानी थी री! कितना ऊँचा जीवन था तेरा! किस प्रकार तेरे सद्‌गुणोंकी चर्चा गाँव-गाँवमें फैली थी। और आज 'गोपाल' 'गोपाल' !!'—इतना ही बोल सकी तीसरी और न जाने उसे क्या हुआ—उस गोपीके चरणोंमें गिरकर वह मूर्च्छित हो गयी।

अब उस दलमें किसीको साहस नहीं हो रहा है कि उसे छेड़ें, क्योंकि पहली दूसरी भी उपदेश तो कर गयीं, पर पहलीकी आँखोंके आगे, दूसरीकी आँखोंके आगे एक साथ ही न जाने कौन-सा दृश्य आया कि पलकें पड़नी बन्द हो गयीं।

उस दलमें जो सबसे गम्भीर, शान्त प्रकृतिकी है, अब वह कह रही है अपने दलसे—'देखो ! इसे छेड़नेमें कोई लाभ नहीं है। इस बेचारीको अपने तनकी सुध ही नहीं रही। फिर संकोच, पथ-अपथका भय, ऊँच-नीचका भेद क्या अर्थ रखते हैं ये इसके लिये ! इसके कण-कणमें वह गोपाल, यशोदाका नीलमणि ही परिपूरित हो चुका है। सारा गाँव इसे समझाकर थक चुका है। अब तुम इस व्यर्थके प्रयाससे विरत हो जाओ।' इतना ही कह सकी वह अधेड़ रमणी और न जाने उसे भी क्या हुआ, वह भी उस गोपीके चरणोंमें गिरकर मूर्च्छित हो गयी। और वह गोपी—'गोपाल', 'गोपाल' की ध्वनिसे यमुनाके कूलवर्ती तमालोंको निनादित करती हुई दक्षिण अरण्यकी ओर चली जा रही है।

अब देखो ! वनपथसे, वनकी पगडण्डीसे वह उस अश्वत्थ वृक्षकी ओर चली जा रही है। ओह ! कैसी विचित्र दशा है इस गोपीकी। ऐसा लगता है, जैसे इसने कोई अद्भुत, विचित्र-सी मदिरा पी ली हो। मुँह लाल-लाल हो रहा है। ज्योति निकल रही है इसके मुखसे। लाल किरणें निकल रही हैं। यह लो। ओढ़नी गिर गयी। कञ्चुकी और लहँगेका आवरण ही देहपर बच रहा है। अलकें बिखर गयीं। कुन्तलोंकी लटें गोपीके ललाटपर झूल रही हैं। उन्मादकी इस दशामें वह आगे दक्षिण-पश्चिमके कोणकी ओर बढ़ती चली जा रही है डगमग गतिसे। अपने निवास-स्थलसे दूर, बहुत दूर चली आयी है वह। किंतु उसे क्या पता ! जब अपने तनका ही भान नहीं उसे, तब फिर आवास कहाँ, कितनी दूर चला गया, इसे कौन देखे ! पैर रखती है कहाँ और पड़ते हैं कहाँ ! अरण्यके वृक्षोंसे टकराने चलती है ; पर बड़ी विचित्र बात है। तरु-शाखाएँ अपने कोमल पल्लव-जालसे उसे थाम लेती हैं और वह आगे बढ़ती जा रही है। अब भी, अनजानमें भी वह नन्दग्रामको अपने दाहिने करके ही चल रही है। आ पहुँची वह अब उस तमालकी शीतल छायामें, जो उत्तरवाहिनी कलिन्दनन्दिनीके तटपर है। विस्फारित आँखोंसे देख रही है वह चारों ओर। जनशून्य अरण्य-स्थल है। कल-कल करती हुई प्रवाहिणी गोपीका स्वागत करती है। फिर एक लहरसे उसे पाद्य समर्पित करती है। इस समय वन-विहङ्गमोंके अतिरिक्त कोई भी उसकी गति-विधिको देख नहीं पा रहा है।...

अब देखो ! वह तमालकी शीतल छायामें आँखें बन्द करके बैठ जाती है। ओह ! कितना विचित्र प्रभाव है उस गोपीका—कुछ क्षण वनविहङ्गम भी

मूक हो जाते हैं। और तरु-शाखाओंपर विराजित रहकर वे गोपीका दर्शन कर रहे हैं।

अब देखो ! उस तमालपर बैठी सारिका अन्य विहंगमोंसे कह रही है— 'तुम सब सुनो, मैं इस गोपीकी जीवनी बतला रही हूँ तुम सबोंको। तुम्हें स्मरण है ही कि हम सब उड़-उड़कर इस रस-तरंगिणीके सम्मोहनघाटपर जल पीने जाया करते थे। उस घाटके अत्यन्त समीप ही वह सरोवर था और इस रस-तरंगिणीके तथा उस सरोवरके मध्यस्थलमें इस गोपीकी पर्णशाला थी। एक बड़ा ही मनोरम उद्यान रस-तरंगिणी और सरोवरको सम्बद्ध कर देता था। इसकी पर्णशालाके अग्रभागमें एक लघु स्रोत भी था। जब रस-तरंगिणी बढ़ती तो उसकी लहरें, उसका जल उस स्रोतमें बहने लगता और सरोवर तक चला जाता तथा जब सरोवर पावसकी धारासे भरपूर हो उठता तो एक छोटे-से द्वारसे इस स्रोतमें बह चलता। रस-तरंगिणी और सरोवरका इस प्रकार रसमय मिलन हो जाता। सम्भवतः गिरिराज के उस प्रच्छन्न निर्झरसे ही इस स्रोतमें जल आता था। ग्रीष्ममें भी वह सूखता नहीं था। और कैसी विचित्र बात ! कभी-कभी हेमन्तमें भी, शीतमें भी, शरद, वसन्तमें भी, शिशिरमें भी, अचानक वह सरोवर भी ऊपरतक भर जाता था, और उसकी धारा बह चलती उस स्रोतमें।

'यह गोपी अपनी पर्णशालामें बैठी रहती। इसके नेत्र निमीलित रहते। इसके हृदयमें नन्दनन्दनकी प्रीतिका दीपक अनादिकालसे जल रहा था। किंतु सभी गवाक्षरन्ध्र, पर्णशालाके सभी छिद्र सर्वथा बन्द रहनेके कारण समीरका एक झोंका भी पर्णशालाके भीतर न आ पाता था। घास-फूस-निर्मित उस लघु विश्रामगृहके एक द्वारसे ही यह गोपी आया-जाया करती तथा अपने हृदय-मन्दिरको तो इसने ऐसा आवृत्त कर रखा था कि उसके अपने श्वास-समीर भी उस दीपक तक नहीं पहुँच पाते थे। इसलिए सर्वथा निर्वातस्थलमें विराजित रहकर प्रीति-दीपकी लौ रञ्च-मात्र भी नहीं हिलती थी।'

'एक दिनकी घटना है—दिनकर प्रतीची—क्षितिजकी ओर झुक पड़े थे। रसतरङ्गिणीके तटसे गूँज उठी यह स्वरलहरी, यह मधुरातिमधुर झंकृति—

कमलमुख शोभित सुन्दर बेनु।
मोहन ताल बजावत, गावत आवत चारे धेनु ॥

यह झंकृति एक विचित्र बयारके रूपमें परिणत हो गयी और जा पहुँची, उस गोपीकी पर्णशालामें—गवाक्षोंमें नवीन छिद्रका निर्माण करके। इनता ही नहीं,

गोपीके कर्णपुटोंके द्वारसे हृदय-मन्दिरके समीप भी जा पहुँची यह बयार। और अचरजकी बात! मन्दिरके आवरणमें भी एक, दो, चार, पाँच, दस, बारह, सोलह छिद्र बन गये। बयार और प्रीति-दीपकी लौका मिलन हो गया। लौ बड़े वेगसे हिल पड़ी। गोपीके वक्षःस्थल की ओर झुक पड़ी। तनके झीने आवरणको जलाकर बाहर निकल आयी। कुन्तलोंकी दो काली लटें वक्षःस्थल पर झूल रही थीं। लौने एक साथ दोनोंको पकड़ा। गोपी का तन जलने लना—परिधान जलने लगा। उधर बयारका झोंका अभी भी स्पन्दित हो ही रहा था। घास-फूसमयी पर्णशालाके दो, तीन लम्बे तृण नीचे लटक पड़े। प्रीतिकी लौ लपटमें परिणत हो ही चुकी थी। लपटने उस तृण को आत्मसात् कर दिया। प्रज्वलित हो उठी पर्णशाला। अबतक हम लोगोंके अतिरिक्त—सुनते हो विहंगमो!—किसीने नहीं देखा था उस गोपीको, गोपीकी पर्णशालाको और गोपीके हृदयको तो देखता ही क्या? अब जब पर्णशाला, गोपी, गोपीका हृदय—सभी धक्-धक् जल रहे थे, तब फिर यह आग कैसे छिपती! भीड़ इकट्ठी हो गयी। सबने जान लिया—'अहा! यह बड़भागिनी गोपी—सम्भवतः स्वप्नमें एक बार—हमारे दृष्टिपथमें आयी थी अवश्य, पर इसके हृदय-मन्दिर में नन्दनन्दनकी प्रीतिका दीपक जल रहा है, उस दीपककी निर्मल ज्योति ही हममें भी नन्दनन्दनकी प्रीति जगानेकी भूमिकाका निर्माण कर रही है—इस बातको हम लोग बिलकुल ही नहीं समझ पाये। बाहरसे कुछ दीखता जो नहीं था...।'

'विहङ्गमो! सुनो, मैं तुम्हें स्पष्ट खोलकर बतला दे रही हूँ—वह गोपी उस सरोवरकी अधिष्ठातृदेवी थी। गोपीकी इन्द्रियाँ ही सरोवरका प्राचीनतट बनी हुई थीं। मन ही दक्षिणका तट बना हुआ था। गोपीकी बुद्धि ही प्रतीची-तटके रूप में परिशोभित थी। इसकी अहंता ही उत्तर-तटके रूपमें मूर्त थी।'

'अब सुनो क्या हुआ—प्रतिदिन ही रसतरङ्गिणीमें बुद्-बुद् उठते थे उस सरोवर की ओर जानेके लिए ही तथा कभी-कभी बुद्बुद् लहरों में परिणत होते और स्रोतके द्वारसे सरोवर तक जा पहुंचते। प्रच्छन्न रूपसे सरोवरका प्रतीची तट, तटकी नींव खोखली होती जा रही थी तथा एक दिन रसतरङ्गिणी में ऐसी बाढ़ आयी कि क्या बताऊँ? पहले तो उसने सम्पूर्ण उद्यानको आत्मसात् कर लिया। वह पर्णशाला तो पहले ही प्रवाह में डूब चुकी थी। क्षण बीतते-न-बीतते रसतरङ्गिणीकी बाढ़ प्रतीची तटके ऊपरसे चल पड़ी। इतने वेग का प्रवाह था कि दूसरे उच्छलनमें ही, रसतरङ्गिणी के दूसरे उद्वेलनमें ही सरोवरका प्रतीची कूल बीचसे टूट गया। और फिर तो दक्षिण-प्राची तटोंके टूटनेमें देर न लगी। इनके टूटते-न-टूटते उत्तरका तट टूटकर, सरोवर-रसतरङ्गिणी दोनों एक हो गये। रसतरङ्गिणीने सर्वथा, सर्वांशमें

आत्मसात् कर लिया उस सरोवरको। सरोवरका नाम था यह…। गोपी उसकी अधिष्ठातृ देवी थी। सरोवरका नाम मिट गया, सरोवर रसतरङ्गिणी बन गया। जहाँ सरोवर था, वहाँ रसतरङ्गिणी लहरा रही है। अब किसकी सामर्थ्य है कि रसतरङ्गिणीके जलको रोक सके, रुद्ध कर सके। जो ऐसा करने जाएगा, करने जायगी—वही बह जायगा, बह जायगी, डूब जायगा, डूब जायगी इस प्रेमसरिताकी बाढ़में, रसकल्लोलिनीके इस उद्वेलनमें…।

'कीर! पक्षियो! सुनो, देखो! गोपीके निवासस्थलको देखो! नन्दग्रामके उस ओर देखो! देख रहे हो तुम! लज्जाकी कैसी विशाल नदी बह रही है, उस ग्रामके आगे। कितनी चञ्चल लहरें हैं उस नदी की। कितनी गम्भीर धारा है उसकी, इसके दोनों तटोंको देखो! उड़ते चले जाओ दोनों तटोंपर, कहीं तटोंकी सीमा मिलेगी ही नहीं। और भी खोलकर कह देती हूँ—वह गोपी बड़ी लज्जावती थी। स्वभावत: चञ्चला होनेसे इसकी आँखें उठतीं तो सही नन्दग्रामकी ओर, किंतु तत्क्षण घूँघटकी ओटमें चली जातीं लज्जावश। इसके गुरुजन इतने कट्टर मर्यादावादी हैं कि पूछो मत। इस गोपीके दोनों कुल कितने विशाल हैं—घूम-घूमकर देखते रह जाओगे, कहीं अन्त नहीं मिलेगा। किंतु हुआ क्या? आधा क्षण भी न बीता, नन्द-नन्दनकी प्रीतिके प्रवाहमें यह गोपी ऐसी बह चली कि सर्वप्रथम लज्जाने ही इसका साथ छोड़ा। गुरुजनोंका वह गम्भीर शासन आधे क्षणमें निरर्थक हो गया। दोनों कुलों का बन्धन पट-पट टूट गया। सबको छोड़कर, सबके ऊपर पैर रखती हुई, सम्पूर्ण प्रतिबन्धकोंको पार करके नन्दग्रामकी ओर भाग चली। नन्दनन्दन की ओर दौड़ चली प्रबल वेगसे। कोई रोक नहीं सका, कोई रोक नहीं सकी इसे। आधे क्षणमें घटना यह संघटित हो गयी…।'

'अहो! शुक! अहो!! कपोत!! कोकिल!!! सभी विहंगम-बन्धुओ! देखो, कैसी शोभा है इस गोपीकी इस समय। इसे क्या पता कि मैं इसकी जीवनी बतला रही हूँ तुम सबोंको। यह तो गयी! गयी!! गयी!!! डूब गयी! डूब गयी!! डूब गयी!!! कहाँ? ओह! देखो, देखो, कलिन्द-नन्दिनीके प्रवाहकी ओर देखो! कलिन्दनन्दिनी कहाँ, महासमुद्र लहरा रहा है! अब उड़ो तो सही प्रतीचीकी ओर, दक्षिणकी ओर, उत्तरकी ओर—कहीं इस महासमुद्रका कोई तट तुम्हें मिलेगा क्या? इस महाभाव-रससमुद्रका कोई किनारा मिलेगा क्या? और फिर प्राचीकी ओर भी उड़कर देख सकते हो, कहीं इस संविन्मय महाभावरससागरका पार तुम्हें उपलब्ध होगा क्या? अरे! सुनो, रहस्यकी बात बतलाती हूँ—इस महाभावसिन्धुके फेनसे ही निर्मित हुआ यह तट तुम्हें दीख रहा है। उस

फेनसे ही निर्मित तमालतरुराशि है, कदम्ब-कानन है, यह वृन्दारण्य है। कथनमात्रके लिये फेनसे भला!'

'कैसे समझाऊँ? अच्छा सुनो—इस रससिन्धुकी लहरें ही शीत उपलके रूपमें परिणत हो गयी हैं, तरुजालके रूपमें परिणत हो गयी हैं, वनके रूपमें परिणत हो गयी हैं, गिरि, गिरि, गिरिशृंगके रूपमें परिणत हो गयी हैं। आँखें गड़ाकर देखो, वही विशुद्ध रस ही इस द्वीपके रूपमें परिणत हो गया है। कहीं भी उस रसके अतिरिक्त, उस विशुद्ध रससुधाके अतिरिक्त तुम्हें इनमें कुछ भी अन्य वस्तु उपलब्ध होगी ही नहीं। ऐसे, इस अपार महाभाव-रससुधा-सागरमें यह रससुधामय द्वीपका भान हो रहा है तुम्हें! द्वीपकी अनुभूति हो रही है तुम्हें! और कितना गहरा है यह महाभाव-रससुधा-सिन्धु! अरे! इसमें तल है ही नहीं। यह नित्य अतल है, और देखो! कैसी ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं इसमें। कुछ समझे? ये लहरें क्या हैं? यशोदा के नीलमणि, नन्दनन्दन ही इन ऊर्मियोंके रूपमें अभिव्यक्त हो रहे हैं। उनकी परम रसमयी लीलाएँ ही उत्तुङ्ग तरङ्ग बन-बनकर ऊपर उठ रही हैं, इस द्वीपके तटको आ-आकर आर्द्र कर दे रही हैं।'

'और फिर देखो! इस गोपीकी लघु-हृत्-स्वर्ण-कलसी उलट गयी, इस महारस-सुधा-सिन्धुके प्रथम स्पर्शमें ही देहसे बाहर निकलकर लहरोंमें नाचने लग गयी। फिर इसमें रस-सिन्धुका जल भरते कितनी देर लगती! बाहर निकलते-न-निकलते वह उल्टे मुँह वाली लघु स्वर्ण-कलसी, छोटी-सी हेममयी हृदय-कलसी लीला-रससे परिपूरित हो गयी। दूसरी लहरमें ही वह आगे वह चली, और देखो! दूर, दूर, दूर—वहाँ डूब गयी वह हृदय-कलसी इस समुद्रके अतल तलमें। विधातामें बुद्धि नहीं, अथवा जान-बूझकर उसने इसे इतना छोटा बनाया, इसकी आकृति इतनी लघु कर दी—कौन बताये इसे! किंचित् आकृति बड़ी होती तो आधे क्षणके लिये कदाचित् इन लीला-लहरियोंपर यह और भी नाचती। हमारी आँखें दर्शनकर कृतार्थ होती, निहाल होतीं। किंतु जैसा होना था, हो गया! जो हो, अब कोई, उस हृदयके कनक-पात्रको इस ओर-छोर-विहीन रसोदधिके अतल-तलसे निकाल लाये तो सही! फिरसे यहाँ लाकर रखे तो सही! कोई ऐसा है क्या? कोई ऐसी है क्या? किसीमें यह सामर्थ्य दीखे तो बताओ, मेरे विहंगम बन्धुओ!…!

'अहो रक्तचक्षु हरितगात्र विहङ्गवर! इस गोपीके जीवनमें ऐसे परिवर्तन हुए क्यों? तुम जानते तो हो ही! तुम्हीं क्यों न सुना दो आगेकी कथा, आगेका इतिवृत्त! किन्तु तुम्हें संकोच होगा। मैं ही कह देती हूँ। तुम्हें स्मरण है ही, कीर! तुम उड़ रहे थे, उड़-उड़कर उस ग्रामकी गतिविधिका निरीक्षण कर रहे थे। उस

आम्रकी शीतल छायामें ही नन्दनन्दन आये कि तुमने मङ्गलाचरण किया इस गोपी-की जीवन-धाराको मोड़नेका। हम सबोंने पहले तुम्हारी ही वाणी सुनी थी—

'··········शोभित बेनु शोभित बेनु।'

और फिर बज उठी वंशी नन्दनन्दनकी। वेणुका वह मधुर रव क्या-क्या चमत्कार कर बैठा—अभी-अभी इसे सुना चुकी हूँ। अब तो केवल कथाका उपसंहार सुनाना है। देखो! इस रवने ही आग लगायी थी गोपीकी पर्णशालामें। आग नहीं लगी थी—वह तो गोपीके चित्तरूप स्वर्ण-कलसीका अन्तिम संस्कार था। सोनेको तपाया जाता है भला! रजकी, रजके एक अणुकी छाया भी न रहे पुरटपर, पुरट-पात्रपर, इसलिए। और फिर उस कनक-पात्रको नन्दनन्दन अपने हाथमें लेकर, अपने हृदय-मन्दिरमें संस्थापित कर देते हैं सदाके लिए, अनन्तकाल तकके लिए। इसे ही कहा जाता है, रागके उन्मेषकी एक प्रणालीमें इस प्रकार——नन्दलालके द्वारा वंशी-वादन होकर, उस वंशी-ध्वनिके श्रवणसे भी राग जग उठता है, वंशी बजाकर नन्दलाड़िले चित्तको आकर्षित कर लेते हैं, उसे अपने रागमें रँगना आरम्भ करते हैं। जितनी तूलिका, उतने चित्रण एक ही चित्र के। अस्तु, इसके पश्चात् वे दस दशाएँ!······! और फिर अन्तिम परिणाम? जिस लज्जासे जगत्का अस्तित्व बना रहता है, वह लज्जा स्वयं लज्जित होकर छिप जाती है। इस गोपीके जीवनमें भी यही हुआ विहङ्गमो!···!

'अरे! देखो!! देखो!!! कैसी विचित्र घटना घटती दीख रही है। अरे! वह अनन्त, अपरिसीम, असमोद्भव, नित्य सत्य, संविन्मय महासमुद्र उस ओरसे उमड़ा चला आ रहा है। अरे! वह देखो, वह उत्तुङ्ग पर्वत-श्रेणी अन्तर्हित हो गयी उसमें। नील, नील, नील रसोद्वेल्लन, रसप्लावन बढ़ता आ रहा है हम सबोंकी ओर। कितनी ऊँची नील लहरें उठ रही हैं उसमें। आ गया, आ गया, आ गया, बिल्कुल समीप आ गया। और देखो! इस गोपीके चरणोंको स्पर्श करने लग गया। अरे! देखो, जय जय! जय जय!! जय जय!!! नीलसुन्दर नित्यकिशोर, ब्रजेन्द्रनन्दन गोपीके समक्ष खड़े हैं। जय, जय, बैठ गये वे गोपी के सामने! किंतु गोपीके नेत्र अभी निमीलित ही हैं। जय जय, जय जय, साँवर किशोरने अंकमें भर लिया गोपीको! देखो, देखो, जय! जय!! जय!!! गोपीके कन्धेपर हाथ रखे नीलसुन्दर जा रहे हैं उस ओर, संविन्मय, अनन्त, अपरिसीम, असमोद्भव महा-भावसमुद्रके उस उद्वेल्लनकी ओर ······जय! जय!! जय!!!

कीर, कपोत, कोकिल, नीलकंठ, 'मिललो गोपी तुम एक' रटनेवाली पिरोंई सभी खग-स्वजनो ! मैं रोती हूँ और एक बार तुम सब भी रोओ । गोपी चली गयी । अब यहाँ दीख रही है उसकी छाया मात्र ।

गोपीकी यह छाया भी हम सबोंके जीवनकी अनमोल निधि है विहंगमो ! ध्यानसे देखो । तमालकी छाया विराजित है । अद्भुत पीतमणिमयी एक लघुशिला-से निर्मित रमणीकी आकृति-जैसी गोपीकी देह दीख रही है । और उसके कृष्ण कुन्तलोंकी सोलह लटें, देहको सब ओरसे आवृत्त कर झूल-सी रही हैं । पर हैं वे लटें भी वास्तवमें निःस्पन्द । ऐसी दीख रही हैं, जैसे सोलह कृष्ण-भुंजगिनियाँ निःस्पन्द विराजित हों गोपीको लपेटे । गोपीके नयन, श्रवण, मुख, नासा-पुटकी छाया संक्रमित-सी हो गयी है इन भुजंगिनियोंमें ।

कीर ! पिरोंई री !! तुमने देखी होगी सर्पकी छोड़ी हुई केंचुली । कैसी दीखती है ? सर्पिणीकी आँखें, मुख, उसकी देह ज्यों-की-त्यों दीखती है उस केंचुली में । ऐसा लगता है, सचमुच वहाँ सर्पिणी है, सर्प है । किंतु केंचुलीमें कहाँ सर्पिणी, कहाँ सर्प ! सर्पिणी, सर्प तो––उस आवरणको छोड़कर चली गयी, चला गया । वैसे ही गोपी अब इस छायामें कहाँ ? कृष्णकुन्तल मण्डित गोपीकी देह-छाया पड़ी है ; उसमें आँख, कान, नासिका, मुख– सब-के-सब ज्यों-के-त्यों दीख रहे हैं, ऐसा लगता है, मानों गोपी अभी भी यहीं है । किंतु गोपी तो इस छायाको छोड़कर कबकी चली गयी ।

कीर ! मैं रो रही हूँ, गीत नहीं गा रही हूँ—

ग्वालिनी प्रगटचौ पूरन नेहु ।
दधिभाजन सिर पै लिए (हो)
कहत गुपालहि लेहु ॥१॥
कौन सुनै, कासौं कहौं (हो)
काकें सुरत - सङ्कोच ।
काकौं डर पथ - अपथ कौ (हो)
को उत्तम, को पोच ॥२॥
हाट-बाट, प्रिय पुर-गली (हो)
जहाँ - तहाँ हरिनाम ।
समुझाएँ समुझै नहीं (हो)
वाहि सिख दै बिथक्यौ ग्राम ॥३॥

पान किये जस वारुनी (हो)
मुख मलकत, तन न सँभार।
पग डगमग इत-उत परैं (हो)
बिथुरी अलक-लिलार ॥४॥
दीपक ज्यों मन्दिर बरै (हो)
बाहर लखै न कोय।
तृन परसत प्रजुलित भयो (हो)
(अब) गुपुत कवन बिधि होय ॥५॥
सरिता निकट तड़ाग के (हो)
दीनौ कूल विदारि।
नाम मिट्यौ, सरिता भयौ
(अब) कौन निबेरै बारि ॥६॥
लज्जा तरल-तरङ्गिनी (हो)
गुरुजन गहरी धार।
दोउ कुल कूल, परिमिति नहीं (हो)
वाहि तरत न लागी बार ॥७॥
विधि भाजन ओछो रच्यौ (हो)
लीला-सिन्धु अपार।
उलटि मगन तामें भयौ (हो)
(अब) कौन निकासनहार ॥८॥
चित आकरच्यौ नन्द के (हो)
मुरली मधुर बजाय।
जेहि लज्जा जग लाजयौ (हो)
सो लज्जा गई लजाय ॥९॥
प्रेम-मगन ग्वालिनि भई (हो)
सूरदास प्रभु-सङ्ग।
स्रवन-नयन-मुख-नासिका
ज्यौं कंचुकि तजत भुजङ्ग ॥१०॥

'कीर! अपने प्राणोंकी वेदना, प्राणोंका हाहाकार, प्राणोंमें धक्-धक् जलती हुई आगकी भट्ठी—क्या उपाय करूँ इनका मैं। ...'

नन्द · सदनकी ओर

शिशिरके अन्तरालसे वसन्तकी सुषमा नन्द-प्रासादके सामने अवस्थित उन आम्र-तरुओंपर व्यक्त होने जा रही है और आज नन्दनन्दन दिनकरकी प्रात:रश्मियों-को देख लेनेपर भी भीतरसे बाहर आनेकी मुद्रामें सर्वथा नहीं हैं। मैया चाह रही है कि प्रासादसे संलग्न गोशालामें उन्हें ले चले, किंतु नन्द-लाड़िले मैयाके लहँगेको पकड़कर झूलने लगते हैं। मैया बाध्य हो जाती है पुन: बैठ जानेके लिए।

'दही लो, दही लो, अरे दही ले लो !'—मधुस्यन्दी स्वर सहसा गूँज उठता है मैयाके कानोंमें। स्वरमें एक अभिनव आकर्षण है। मैयाने इतना मधुमय स्वर मानों कभी सुना ही नहीं था।

'मेरे लाल ! कोई ग्वालिन दही बेचने आयी है रे। बाहर-बाहर तोरणके उस पार रे ! चल, चल, देखें तो सही, कौन है !'—अपने नीलमणिको भुजपाशमें भरती हुई, कपोलोंपर प्रीतिचिह्न अङ्कित कर मैयाने प्रेरणा दी। किंतु अचरजकी बात, आज तो यशोदाके नीलमणि तुले बैठे हैं बाहर नहीं जानेके लिए।

मन्द समीरका एक झोंका नीलमणिको स्पर्श करता है उनके नखचन्द्रको स्पर्श करनेके उद्देश्यसे—मानों म्लान-चित्तसे अन्य कोई पथ न पाकर विलीन होने आया है उनमें ही और संकेत कर रहा है—'शिशिरके साथमें नहीं जाऊँगा। हे मेरे जीवन-सर्वस्व ! मैं तुम्हारे नखमणिमें ही तबतक विश्राम करूँगा, जबतक ऋतुराज मेरे अंगों-को सुरभित न कर दे अपने सौरभसे।'

'हे व्रज-जन-जीवन ! अभी-अभी शिशिर भी आयेगा ही तुम्हारे-तुम्हारे-तुम्हारे ही पदनखकी द्युतिमें अपना आवास ढूँढ़ने और उस समय हे भक्तवाञ्छाकल्प-तरु ! उससे तुम कह देना—'जबतक तुम समीरको शीतलताका दान करोगे, तबतक मैं आज तो क्या, कभी भी बाहर नहीं निकलूंगा प्रासादसे। ऋतुराजकी अर्चनाको ही स्वीकार करने आऊँगा' · ।'

'अरी मैया ! मुझे तो ठण्ड लग रही है री ! और तू कह रही है—बाहर चल, मैं तो नहीं जाऊँगा।'—नन्दनन्दनने मानो विनती सुन ली समीरके प्राणोंकी।

'दही लो, दही लो, दही लो, अरी बहिनो ! कोई तो दही ले लो ।'—वही प्राणोन्मादी मधुमय स्वर मुखरित करने लग गया नन्द-सदनके कण-कणको ।

'मेरे लाल ! कोई तेरे राज्यकी दीना ग्वालिन दही बेचने आयी है । पुकार रही है करुण स्वरमें । चल, चल मेरे असंख्य प्राणोंके प्राण ! एक बार चलकर देखें तो सही, कौन है वह ग्वालिन ? अहा ! कितने आतुर कण्ठसे बुला रही है वह किसी दहीके ग्राहकको ! दही, दही, तो अपने घर, शत-शत मटकोंमें भरा है । पर मेरे नील-मणि रे ! उसका दही अत्यन्त सुमधुर, अत्यन्त सुमिष्ट होगा । देख, देख, कैसी मीठी पुकार है उसकी !'—इस बार प्रलोभनका जाल रचकर मैयाने नीलमणिको बाहर ले जाना चाहा । किंतु नीलमणि मैयाको खींच ले चले प्रतीचीकी ओर कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहकी दिशामें । मैयाने समझ लिया, अब उसके नीलमणि दिनकरनन्दिनीकी धाराके समीप ही खेलनेका विचार कर रहे हैं । सुबल, श्रीदाम, विशाल, स्तोककृष्ण आदि प्रासादके प्रतीची अंशके स्तम्भोंकी ओटमें छिपे मैयाको दीख भी गये । मैयाका मुख उस ओर ही हो गया । चल पड़ी मैया अपने नीलमणिको अङ्कमें लेकर उस ओर ही ।

नीलमणिकी क्रीड़ा आरम्भ होती है । अन्य शिशु योगदान कर रहे हैं । मैया अपलक नेत्रोंसे देख रही है । कभी आकर अङ्कमें विराज जाते हैं और कभी जननीके कानके पास अपने बिम्बविडम्बी अधरोंको ले जाकर अत्यत्त धीमें स्वरमें कह देते हैं — 'दही लो !'—और तत्क्षण मैयाको अनुभव होने लगता है कि सचमुच वह ग्वालिन अभी भी वैसे ही पुकार रही है और यमुनाके प्रवाहपर मानों उसका स्वर नाचता-सा दीख रहा है । कल्लोलिनीकी कल-कल धारा मैयाको 'दही लो'-का भान कराने लगती है । और तो क्या, मैया अपनी कल्पनाकी आँखोंसे देखने भी लग जाती है, मानों अत्यन्त निकट ही वही दही बेचने वाली कहीं छिपी खड़ी है और उसका ही स्वर सर्वत्र परिपूरित हो रहा है । साथ ही मैयाको यह भी भान हो रहा है, उनका नील-मणि भी उसी स्वरकी अनुकृतिमें संलग्न है । जैसे-तैसे नीलसुन्दरको भुलाकर पुनः एक कक्षमें ले आती हैं वे । उन्हें कुछ खिलाती है और इतनेमें मैयाके कानोंमें पुनः 'दही लो' 'दही लो'-की ध्वनि झंकृत होने लगती है ।

इस बार मैया अपनेको रोक नहीं पाती । नीलमणिको बरबस अङ्कमें लेकर बाहर चलनेको प्रस्तुत हो जाती है । किंतु एक विचित्र-सी अवस्थामें मैयाके अवस्थित हो जानेके कारण नीलमणि गोदीसे नीचे सरक पड़ते हैं । मैया भ्रान्त-सी हुई प्रासादके

बाह्य अलिन्दपर जाकर खड़ी हो जाती है और तोरणके उस पार उसे दीख जाता है, एक अत्यन्त सुन्दरी प्रौढ़ा अहीरिन सिरपर छोटा-सा दहीका मटका लिए उन्मादिनी-सी वैसे ही पुकारती इधर-से-उधर घूम रही है। मैया देखती ही रह गयी, पर वह ग्वालिन प्राचीकी ओर चल पड़ी।

सहसा मैयाको भान हुआ, नीलमणि अङ्कमें तो नहीं है और वह पुनः भवनके अन्तर्देशमें लौट आयी। नीलसुन्दर आँखें नचाकर मैयाके लहँगेसे चिपक जाते हैं और मैयाको बैठाकर उसके अङ्कमें विराज जाते हैं।

एक, दो, तीन—घड़ी बीत जाती है। निमीलित नेत्रोंसे मैया अपने लालको अङ्कमें लिए समाधिस्थ बैठी है। शिशु उसे घेरे खड़े हैं। किंतु यह एक-दो घड़ीका विचार भी बाह्य दृष्टिसे ही है। वस्तुतः कितना कालम गया—कहना कठिन है; ना क्योंकि दिनकर तो प्रतीचीकी ओर झूलते-से दीख रहे हैं—नहीं-नहीं प्रतीचीक्षितिजको छूने जा रहे हैं। यहाँका काल, व्रजदेशका काल प्रकृतिगत कालसे भिन्न जो ठहरा !

जो हो, मैयाकी आँखें खुलती हैं और तुरन्त आत्यन्तिक व्यथा और करुणासे पूर्ण वही स्वर पुनः सुन पड़ता है—'दही लो', 'दही लो !' मैया अन्य सभी कुछ विस्मृत कर यन्त्रवत् पुनः प्रासादके द्वारपर आती है, तोरणके उस पार चली जाती है तथा अपलक नेत्रोंसे देखने लगती है उस ग्वालिनकी ओर। स्वेदसे लथपथ वह ग्वालिन मैयाकी ओर देखने लगती है।

'अरी ! साढ़े तीन प्रहर बीत गये, तेरे स्वरका—'दही लो' पुकारका विराम नहीं हो पा रहा है।'—मैया ग्वालिनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके इतना ही बोल पायी। मैयाके अङ्कमें एक विचित्र-सी सिहरनका आविर्भाव हो गया।

'सुनती है ? मुझे लगता है कि तू दही बेचने अवश्य आयी होगी ; किंतु झूठ-मूठ ही—किसी भी कारणसे बार-बार मेरे द्वारपर ही आ जाती है और फिर पुकार उठती है। तेरे मनमें कोई दूसरी अभिसन्धि है क्या री ?'—मैया उत्तरकी प्रतीक्षामें रुक गयी।

'बोलती क्यों नहीं री ! दुख, मैं प्रातःसे तेरा वही स्वर सुन रही हूँ, कहीं भी अबतक किसीने तेरा दही लिया भी नहीं। मटका ऊपर तक ज्यों-का-त्यों भरा है ···।' मैया पुनः रुकी, पर उत्तरकी प्रतीक्षामें नहीं ; एक विचित्र भावावेशने मैयाको आत्मसात् कर लिया है।

'तो क्या इसी गलीमें कोई दही खरीदनेवाला है क्या री ? यहीं कहीं किसी द्रुमकी ओटमें छिपा है क्या री ! उस ओर देख, कदाचित् हो। इस बहाना बनानेमें क्या लाभ है री !'— मैया कहना नहीं चाह रही थी ; पर न जाने क्यों ऐसे बोल गयी।

ग्वालिनकी आँखोंसे दर-दर अश्रुका प्रवाह चल पड़ा।

'अरी ! तनिक मेरे निकट आ। देख, मेरी बातका बुरा मत मानना भला ; और भी तो कोई तेरे घरमें होंगी ही, तो क्या उनमेंसे और कोई दही बेचना नहीं जानती थी क्या ? दहीके ग्राहकको पटाने वाली सबसे अधिक सयानी तू ही है क्या री ?'— ऐसे बोलना सर्वथा अनुचित अनुभव करती हुई भी मैया बोल तो गयी, किंतु मैयाके प्राणोंमें एक वेदनाका संचार हो गया।

दिनकरकी किरणें अब नहीं दीख रही हैं। संध्याकी नीरवतामें खड़ी है वह ग्वालिन, और मैया देख रही है उसकी ओर। ग्वालिनी प्रत्येक साँस कुछ कह रही है मैयासे, किंतु मैया इतना ही समझ पायी—उसे मेरी बातका दुःख हो गया है। ग्वालिनकी आँखोंसे झरता हुआ अश्रुका अनर्गल प्रवाह, अत्यधिक श्रान्तिसे भरा हुआ कलेवर मैयाकी आँखोंमें है। धैर्य रखना मैयाके लिए सम्भव न रहा। एक हाथसे दहीका मटका थामे हुए, दूसरे हाथसे अंकमें भर लिया मैयाने उस प्रौढ़ाको। मैयाको स्पष्ट अनुभव हो गया, कितनी वेदनाकी आगमें ग्वालिनके प्राण जल रहे हैं।

'अरी मैया ! तू तो यहाँ खड़ी है और मैं तुझे ढूँढ़ता फिर रहा हूँ और यह कौन है री ! जो तेरे अंकसे लगी है।'—नीलमणिने एक साथ मैयाको और उस ग्वालिनको छूकर जननीको झकझोरना आरम्भ किया। मैया दोनोंको अंकमें लिये वहीं तोरणके पास भूमिपर बैठ जाती है।

'तो तू दही बेचने आयी है री ! कहाँ रहती है ? तेरा घर कहाँ है री ? तू मुझे दही दे दे, देखूँ कैसा है ? ओह ! बड़ा ही मीठा होगा।'—नीलमणिने मटकेको सिरसे उतारना चाहा और मैयाने उसे अपने हाथोंसे उतार दिया।

'बड़ा मीठा दही है'— नन्दनन्दनने दहीका आस्वादन करते हुए ग्वालिनकी आँखोंकी ओर देखा।

चेतनाशून्य ग्वालिन मैयाके अङ्कमें पड़ी है। नीलमणि मैयाकी ओर, और कभी उसकी ओर देख-देखकर हँस रहे हैं। कभी मैयासे पूछते हैं कुछ अटपटे प्रश्न— 'तो क्या संध्याके समय दही बिकता है ? ···यह तो न जाने क्यों यहाँ आकर नींदमें

सो रही है···थक गयी है क्या, मैया · तो अब रातको अपने घर कैसे जायगी ? ··
तू इसे अपने ही घर क्यों नहीं रख लेती···? इसके घरमें कौन-कौन है मैया···?
वह भूखी दीख रही है···अच्छा, प्रातःकाल यही पुकार रही थी, 'दही लो···मैया !
वह तो वृषभानुपुरकी दीखती है···। वही-वही गाँव, तुझे याद है न री, मैया !···
तू इससे पूछ तो यह बात···। तू कितनी देर सोयेगी री···? ऐं मैया ! घरवाले
इसे अपने घरमें न देखकर इसे खोजने आयेंगे कि नहीं ? तो तू बाबाको भेज दे
इसके घर कह आयेंगे—'आज तो मेरे घर ही रहेगी यह' ऐं मैया ! यहाँ तो कोई
दही बेचने नहीं आती थी री ! यह मुझसे कितनी बड़ी है, मैया !···? तू इससे
पूछ, इसका ब्याह हुआ है या नहीं···? वही, वही, वही···सपनेकी बात तुझे याद
है न···। अरी मैया ! कहीं वही तो नहीं है री···? पर यह तो मुझसे लंबी अधिक
है · और तूने तो आयुमें उसे मुझसे छोटा बताया था। तो, एक दिनमें अगर कहीं
मेरेसे लंबी वही हो गयी होगी तो क्या पता···? दिनभर दौड़नेके कारण लंबी हो
गयी होगी तो क्या पता ? ऐं मैया ! तू जरा इसे छूकर बता कि यह सो रही है
कि केवल सोनेकी नकल कर रही है। देख, मैया ! इसके पेटमें गुदगुदी कर ; सोयी
होगी तो जाग जायगी, नहीं तो हँस पड़ेगी···। अथवा इसके मुँहमें थोड़ा दही तू
डाल दे ; यदि खाने लगेगी तो समझ लेना जगी हुई है। किंतु यदि नकल कर रही
होगी तो चुपचाप दही ढरका भी देगी। मैया ! तू कोई उपाय कर, जिससे मैं जान
सकूँ कि यह सोयी है या सोनेकी नकल कर रही है। अरे ! इसके तो सारे परिधान
गीले हो रहे हैं। तो यमुनामें नहाकर आयी है या स्वेदसे भीग गये हैं इसके वस्त्र।
तो मैया ; तू अपने घरसे इसके लिए लहँगा ला दे और ओढ़नी भी · ।'

अघटघटनापटीयसी योगमायाका—अचिन्त्य लीला-महाशक्तिका एक आवरण आ जाता है। मैयाके दृष्टिपथसे ग्वालिन अन्तर्हित हो जाती है और मैया विस्मृत कर जाती है गत साढ़े तीन प्रहरकी घटनावलीको ! उसे भान होता है, 'नीलमणि भी यहाँ नहीं है। कहीं गोशालामें खेलने गया है ?'

प्रकृतिसे परे—निर्गुण धरातलपर—अविराम भावसे चलने वाली भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी इस उपर्युक्त लीलाके अन्तरालमें, उनके अटपटे प्रश्नोंमें व्रजके मधुर-भावकी साधनाका एक बड़ा ही अद्भुत संकेत भी प्राप्त हो रहा है। अवश्य ही उस संकेतको हृदयंगम वही कर सकता है, वही कर सकती है, जो सचमुच अपने हृदयको दहीका प्रतीक बनाकर उस ग्वालिनकी भाँति अपने सिरपर, दूसरे शब्दों में—अपने विवेकपर प्रतिष्ठितकर नन्दनन्दनको खोजनेकी अभिलाषा लिये हो। साधना-का प्रवाह कैसे चलता है—यह अनुभव उसीके लिए सम्भव है, जो अन्य अभिसंधियों-

से सर्वथा शून्य होकर, साधनामें ही अपने मन-प्राणको तन्मय कर देनेमें जुट पड़ता है। और फिर वहीं, जहाँ वह है, जिस परिस्थितिमें है, भगवत्कृपाके प्रकाशकी प्रतीक्षा करता रहता है। यह सिद्धान्त सत्य है, ब्रजभावके साधकको विवेकका आधार तो रखना पड़ेगा ही, किंतु उसपर अपने हृदयके भावोंकी प्रतिष्ठा कर, उसके प्राबल्यको ही सुरक्षित रखना होगा। उसका भाव ही उसका भगवान् जो ब्रजेन्द्रनन्दनके साथ मिलन करानेमें हेतु बनेगा—यह निष्ठा उनको रखनी ही पड़ेगी। जो भावोंके प्रवाहको गौण कर, विवेकको ही प्रधान कर, ब्रजभावकी साधनामें चलते हैं, उनके लिए ब्रजभावकी साधना केवल चित्तशुद्धिमात्रका दान कर सकेगी। रसराज और महाभावके संविन्मय स्वरूपका अनुभव उन्हें हो ही जाय, यह कहना बड़ा कठिन है। साथ ही यह भी सत्य है—दृश्यसे सर्वथा ऊपर उठकर ही, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' में पूर्ण परिनिष्ठा जिनकी है, उनके लिए ही, ब्रजभावके वास्तविक स्वरूपकी अनुभूति सम्भव होती है। इसलिए ही विवेकपर हृदयको प्रबल करके और फिर साधनामें जुटकर, भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा करनेका मार्ग ही निरापद और निश्चित रूपसे ध्येयकी प्राप्ति करानेवाला माना गया है। प्रतिभाके आश्रयसे ब्रजरसके सत्य स्वरूपकी प्राप्ति आजतक तो नहीं देखी गयी, और उपर्युक्त चिन्मयी लीलामें इसका सुस्पष्ट संकेत हम प्राप्त कर रहे हैं।

ग्वालिन आयी है दही बेचने—नहीं-नहीं अपने हृदयको ब्रजेन्द्रनन्दनके चरण-सरोरुहमें समर्पित करनेको। उसका विवेक उसके हृदयको स्थिर किये हुए है, किंतु साथ ही उसके गाहक नन्दनन्दन और नन्दनन्दनसे सम्बद्ध सबके लिये उसके हृदयका स्वरूप सुस्पष्ट है। आवरणके अन्तरालमें रहनेपर भी किसीको भ्रान्ति नहीं है कि उसका रूप क्या है ? वाणीके द्वारा भी ग्वालिन घोषित कर रही है—वह क्या बेचने आयी है। वैसे ही साधक भी, जो सच्चा साधक है, सबके समक्ष आवरण-शून्य रहता है। उसके हृदयके स्वरूपके सम्बन्धमें किसीको भ्रान्ति नहीं होती—इतना निर्मल वह होता है। पुनः ग्वालिन पुकार अवश्य कर रही है दहीके गाहककी, किंतु ऐरे-गैरे गाहकको वह दही दे भी नहीं रही है। ठीक इसी प्रकार ही सच्चा साधक घूमता अवश्य है, पर उसकी गति होती है नन्द-नन्दनकी ओर ही। अपने हृदयको अन्य किसीके चरणोंमें वह समर्पित कर ही नहीं सकता।

ग्वालिनकी साधनामें भी कहीं विश्रामके लिए अवकाश नहीं। आधे क्षणके लिए भी ग्वालिन नहीं ठहरती कहीं—साधक भी कहीं किसी अन्यकी ओर देखता ही नहीं। और तब नन्दनन्दनकी जननीके कानोंमें ग्वालिनकी पुकार पहुँचती है··· ठीक वैसे ही सच्चे साधककी पुकार सच्चे महापुरुषोंके, सच्चे महासिद्धोंके ध्यानको

आकर्षित कर लेती है। नन्दनन्दनपर आधिपत्य है एकमात्र नन्द-गेहिनीका, वैसे ही सच्चे महासिद्धोंकी ही निधि हैं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन! मैया आती है, वैसे ही महासिद्ध भी अन्तमें आ ही जाते हैं अपनी निधिका दान करने ; किंतु नन्दनन्दन खरे सौदागर हैं और प्रीतिकी परीक्षा करनेके अनन्तर ही, प्रीतिकी विशुद्धताको अभिव्यक्त करनेके अनन्तर ही अपने स्पर्श का दान करते हैं। इसलिए महासिद्धोंकी गति भी तबतक अवरुद्ध ही रहती है, जबतक साधक उन आवश्यक साधनाके अंशोंमें उत्तीर्ण नहीं हो जाता। यहाँका कालमान वदल नहीं सकता, किंतु साधककी परीक्षा समाप्त होते ही सम्पूर्ण प्रतिबन्धकोंका अवसान करके मिलनका क्षण उपस्थित कर दिया जाता है।

मैया पूछ रही है, पूछ गयी है कितने प्रश्न ग्वालिनसे, ठीक वैसे ही महासिद्ध भगवत्संयोगकी सिद्धिके लिए, उसके लिए आवश्यक वेदना उत्पन्न कर देनेके लिए भूमिकाका निर्माण कर देते हैं। ग्वालिन अदर्शनकी वेदना-ज्वालामें जलने लगती है, साधकके लिए महासिद्धोंके द्वारा निर्मित उस भूमिकाका पर्यवसान होता है, मिलनकी उत्कण्ठाके लिए धक्-धक् करते हुए अग्नितापमें। और ग्वालिनके समक्ष नन्दनन्दन आ ही गये, और वैसे ही आ जाते हैं नन्दनन्दन साधकके सामने भी। क्षणिक चिन्मय स्पर्श ग्वालिनको अभिभूत कर लेता है, साधकको भी नन्दनन्दनका स्पर्श आत्मसात् कर लेता है, और तब दधिके आस्वादनकी प्रक्रिया जैसे वहाँ चली, वैसे ही संविन्मय स्वरूप विलासका समुद्र हिलोरें लेने लगता है। वे अटपटे प्रश्न संविन्मयी लहरें हैं। अवश्य ही उनका सम्बन्ध तटसे—नन्दनन्दन-स्वरूप महासिद्धसे कथन-मात्रके लिए रह जाता है। लहरें अपने-आपमें ही, अपने-आपके प्रति ही नाचती रहती हैं।

नन्दनन्दनकी आँखें केवल स्वरूपभूता वृषभानुनन्दिनी राधाकिशोरी, राधाकुमारीको ही देखती हैं। और इसीलिये रस-समुद्रकी ऊर्मियाँ अपने-आपमें ही, अपने-आपसे ही विलसित होती हैं। किंतु साधकके लिए उसी स्थानपर पूर्ण रूपसे सम्पूर्ण जीवनकी साधनाका संकेत रहता है—साथ ही स्वरूप-विलासका रूप अक्षुण्ण विराजित रहता है :—

(१)—'तो क्या सन्ध्याके समय दही बिकता है?'—'जीवनकी सन्ध्या आनेसे पूर्व ही ऐसी आकुलताका बिन्दु सृष्ट कर लो, जहाँ तुम्हारे हृदयके समर्पणको स्वीकार करनेके लिए मुझे तुम्हारे सामने अभिव्यक्त हो जाना पड़े। तुम्हारे हृदयका गाहक मैं ही हूँ। पर तबतक तुम्हारे समक्ष आऊँगा भी नहीं, जबतक मेरे लिए

आत्यन्तिक व्याकुलताकी लहरोंमें तुम्हारी सत्ता विलीन होती मुझे न दीखे। तुमपर शक्ति-संचार हो चुका था मध्याह्न आनेसे पूर्व ही—किंतु वह शक्ति मूर्त न हो सकी अपने सम्पूर्ण वेगसे, ग्राहकता-शक्तिके अभावमें······। ग्राहकता-शक्तिका परिवर्धन तुम्हारे हाथमें है ·। वह शक्ति ग्राहकताका उन्मेष भी करेगी अवश्य ; पर यदि तुम्हारी आँखें केवल मुझ गाहककी ओर टिकी रहकर, लज्जा छोड़कर केन्द्रित रहेंगी मेरी ओर ही···आँखें किसी भी दिशाकी ओर न जाकर, और अपने पुरुषार्थ-की गतिको बन्द कर यदि मेरी ओर ही स्थिर हो जायेंगी तो उस आकुलताका बिन्दु सृष्ट हो जायगा जीवनकी सन्ध्या आनेसे पूर्व ही—अन्यथा अन्तिम क्षणमें ही मेरा स्पर्श तुम्हें प्राप्त होगा···। होगा अवश्य ··पर साँझ होनेसे पहले ही, अन्तिम साँस आनेसे पूर्व ही, पर्याप्त पहले भी तुम मेरा संस्पर्श प्राप्त कर सकते हो, वह व्याकुलता सृजन करके ···।'

'नित्यनिकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी ! प्राणोंकी उत्कण्ठा लिए मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था—तुम्हारे रसमय हृदयके आस्वादनकी, किंतु तुम उस आकुलतापर द्रवित हुई तब, जब निराशाके बिन्दुको मैं छूने लगा ·।

'क्या मैं इतने विलम्बसे तुम्हारे दर्शनका अधिकारी हूँ ? तो जैसे तुम मुझसे रूठ जाती हो, वैसे अब मैं भी रूठा हूँ तुमसे···। आँखें अपलक निहार रही थीं केवल, केवल, केवल तुम्हें। पर गुरुजनों की लाज मुझे बाध्य कर रही थीं बाहर न आने के लिए। तुम क्यों नहीं कक्षमें ही चली आयीं···। मेरी लज्जाके आवरणको तो तुम्हें ही तोड़ना पड़ेगा। चाहकर भी मैं मिल नहीं पाऊँगा तुमसे, यदि तुम मुझ-पर अहैतुकी कृपाका प्रकाश न करके स्वयं मेरे पास न आ जाओगी···। तुम्हीं सोचो कदाचित् मैया बाहर न आती तो अपनी लज्जाको मैं तो छोड़ नहीं पाता··· तुम अब आगे तो मुझपर उस कृपाका प्रकाश करो—प्रातः-समीर के समय हम दोनों एक बार मिलकर और···।'

(२)—'यह तो न-जाने क्यों यहाँ आकर नींदमें सो रही है··।'—'तुम्हारी सारी श्रान्ति दूर हो जायगी और तुम परमानन्दमें निमग्न हो जाओगे—बाह्य दृष्टिसे मानों तुम मुझे नहीं दीख रहे हो, ऐसी प्रतीति होनेपर भी।'

'किशोरी ! प्राणोंकी रानी !! मैंने तो तुम्हें कुछ भी नहीं कहा ? क्या मेरा कहना अनुचित था ? क्यों तुमने मेरी ओर से आँखें फेर लीं··?'

(३)—'थक गयी है क्या मैया··?'—तुम्हारे अनन्त अपरिसीम आनन्दमें निमग्न रहनेपर भी मेरी करुणाकी लहरें तुम्हारे लिए उत्तरोत्तर अप्रतिम सुखका सृजन करती रहेंगी। वे लहरें तुम्हारा पाद-संवाहन करती रहेंगी।'

'किशोरी! कितनी दूरसे तुम चलकर आयी हो? मैं तुम्हारे चरणोंको अपनी अलकोंसे, अपनी पलकोंसे पोंछकर निहाल होऊँ··।'

(४)—'तो अब रातको अपने घर कैसे जायगी?'—एक बार मुझसे मिलन हो जानेके अनन्तर तुम मायाके आवरणमें नहीं जा सकते। दुःख तुम्हें स्वप्नमें भी छू नहीं सकेगा।'

'मेरे शत-सहस्र प्राणोंकी देवी! आजकी रजनी तो इस कदली-निकुञ्जस्थलमें हम दोनों अतिवाहित करें···।'

(५)—'तू इसे अपने घर ही क्यों नहीं रख लेती?'—'तुम्हारे अन्दर संकल्प ही नहीं जगेगा कोई-सा भी। फिर वेदनाका—दुःखका सदाके लिए अन्त हो जायगा तुम्हारे लिये। तुम मेरे चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं सुखकी अनुभूति ही नहीं कर सकोगे।'

'जीवनेश्वरि! मेरे अंकमें तुम्हारे चरण विराजित रहनेपर तुम्हें सुखानुभव होगा कि नहीं, कह नहीं, सकता। किंतु आज कुछ क्षणोंके लिये, आजकी रजनीके लिए मुझे यह सौभाग्य दे दो। और तुम मुझे बतला देना, तुम्हारी श्रान्तिका अपनोदन हुआ कि नहीं··?'

(६)—'इसके घरमें कौन-कौन हैं, मैया··?'—मायाका सम्पूर्ण आवरण नष्ट हो जानेके कारण फिर तुम्हें नित्य-निरन्तर सर्वत्र केवल मेरी-ही-मेरी उपलब्धि होगी।'

'प्राणोंकी रानी! यह बतलाओ, आज जब तुम आ रही थीं, तब द्वारपर कौन-कौन खड़े थे? किंतु तुम्हारी आँखें तो मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं देख पातीं। तुम कैसे बतला सकोगी?···ओह! इस तन्मयताका एक कण भी कदाचित् मैं स्पर्श कर पाता, जीवनेश्वरि!··'

(७)—'यह भूखी दीख रही है···?'—'तुम्हारे अन्दर कोई वासना न रहनेपर भी जितनी वासनाओंका सृजन तुम्हारे द्वारा हुआ था, उनकी आत्यन्तिक पूर्तिका अनुभव भी तुम्हें हो रहा है कि नहीं—तुम्हीं बतलाओ··।'

'प्राणेश्वरि ! मैं तुम्हें अब अपने संविन्मय रसमें स्नान कराऊँ क्या …?'

(८)—'अच्छा—प्रातःकाल यही पुकार रही थी, 'दही लो…।'—तुम्हें यह भी अनुभव हो जायगा कि मैं सतत जागरूक था तुम्हारी गतिविधिकी ओरसे और तुम्हें भान हो रहा था, मानों मैं उदासीन हूँ तुम्हारी ओरसे।'

'मेरे नयनों की पुतरी ! मुझे प्रातःकालसे ही भान तो अवश्य हो रहा था कि तुम मिलने आयी हो मुझसे ; किंतु…उस कारणसे तुम्हें विलम्ब हो रहा था मेरे पास आनेमें…।'

(९)—'मैया ! यह तो वृषभानुपुरकी दीखती है…?' 'तुम्हें मुझसे मिलनेसे पूर्व मेरी प्रियतमा वृषभानुकिशोरीके पदचिह्न जहाँ पड़े होंगे, उस धूलिकी अर्चना करनी पड़ेगी। यह धूलि ही तुम्हें अधिकारका दान करेगी।'

'भानुनन्दिनी ! हम दोनोंको भी तो भानुपुर चलना ही है।'

(१०)—'वही, वही गाँव—तुझे याद है न री मैया ! तू पूछ तो इससे वह बात।'—'तुम भूले नहीं होओगे, कैसे तुम्हारी वह साधना, वह अनुभूति, रसकी साधनामें परिणत हो गई थी। क्यों? अब तो अचरज नहीं हो रहा है मेरी उन प्रेरणाओंपर।'

'प्राणेश्वरि ! उस बकुलतरुकी घटना स्मरण है न…!'

(११)—'तू कितनी देर सोयेगी री !'—'अब तुम देखो, कहीं तुम्हारी आँखें जाती हैं क्या अन्यत्र मुझे छोड़कर?'

'प्राणसंजीवनी ! कब मैं तुम्हारी उस कृपाका अधिकारी बनूँगा…?'

(१२)—'ऐं मैया ! घरवाले इसे अपने घरमें न देखकर इसे खोजने आयेंगे कि नहीं…?'—'अब तुम्हें मायाकी छाया भी देख नहीं पायेगी। निश्चिन्त रहना, भला ! इसलिए कह रहा हूँ कि भक्तिरससे विशुद्धतम आवेशमें तुम्हें भयकी भ्रान्ति कदाचित् हो जाय।'

'प्राणेश्वरि ! वहाँ…उस कक्षका द्वार कदाचित् खुला रह गया हो तो…'

(१३)—'तो तू बाबाको भेज दे इसके घर। कह आयेंगे—'आज तो मेरे ही घर रहेगी यह…।'—'तुम जिन-जिनसे जुड़े हुए थे, जिन-जिनके मनमें तुम्हारे प्रति तनिक भी महत्व था, वे भी मेरा संस्पर्श प्राप्त करेंगे भला !'

'तुम चिन्ता मत करो, मेरे प्राणोंकी रानी ! ललिता, विशाखा आदिने निश्चित रूपसे··· उसकी भी व्यवस्था अवश्य कर दी होगी।'

(१४)—'ऐ मैया ! यहाँ तो कोई दही बेचने नहीं आती थी, री !···'—'देखो, हजारों-हजारों में कोई एक ही मेरी ओर मुझे ढूँढ़ने चल पड़ता है।'

'प्राणाधिके ! मुझे सुख देनेके लिये तुमने आज कुछ भी उठा नहीं रक्खा···'

(१५)—'यह मुझसे कितनी बड़ी है मैया !···'—'तुम जिस दिन, जिस क्षण मेरी ओर चले हो—उसी दिन, उसी क्षणसे मैं तुम्हारा पुजारी हूँ।'

'प्राणोंकी रानी ! प्राणबल्लभे !! अनन्त काल तक मैं तुम्हारा ऋण-परिशोध नहीं कर सकूंगा···।'

(१६)—'तू इससे पूछ, इसका ब्याह हुआ है या नहीं ?'—तुम्हें स्मरण होगा—कैसे मैंने क्षणोंमें ही तुम्हारी ममताके समस्त बन्धनोंको तोड़ दिया था।'

'प्राणेश्वरि ! मेरे प्राणोंकी आराध्य देवी !! कालके अनादि प्रवाहमें मेरे अतिरिक्त तुम्हारी आँखें अन्यत्र गई ही नहीं। किंतु हाय रे ! मैं तुम्हारे योग्य बन नहीं सका···।'

(१७)—'वही, वही, वही—सपनेकी बात तुझे याद है न ? अरी मैया ! कहीं वही तो नहीं है री !···'—'उस प्रथम स्वप्नमें भी मैं ही मूर्त्त हुआ था, भला ! वह तुम्हारी स्वप्नानुभूति नहीं थी। वास्तविकता ही किञ्चित् आवरण लिए व्यक्त हुई थी।'

'प्राणवल्लभे ! तुम्हारा स्वाप्निक संस्पर्श भी कितना प्राणोन्मादी होता है, इसे किन शब्दोंमें कहूँ ···।'

(१८)—'पर यह तो मुझसे लम्बी अधिक है और तूने तो आयुमें उसे मुझसे छोटी बताया था ?'—'देखो ! साधनाकी दिशामें तुम्हारी प्रगति बहुत ही छोटी आयुमें पर्याप्त हुई थी और तुमने अपने भावके प्रवाहमें मेरे प्रीति-प्रतिदानको लघु-लघुतर-लघुतम बना दिया। मैं तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ, भला ! ध्रुव सत्यको प्रकट कर रहा हूँ। ऋण-परिशोधका एक नगण्य प्रयास कर रहा हूँ।'

'जीवनसङ्गिनी ! शैशवकी प्रथम किरणोंसे ही आरम्भ कर तुमने मेरे प्रति प्रतिक्षण-वर्धमान जिस अनुरागका परिचय दिया है, उसकी विशालता एवं नन्द-

सदनकी भूमिको स्पर्श करनेके आरम्भसे मेरी हृदयहीनताका चित्रण न तो कोई कर सका है और न कोई आगे कर सकेगा ''

(१९)—'तो एक दिनमें कहीं मेरेसे लम्बी वही हो गयी हो तो क्या पता ? दिनभर दौड़नेके कारण लम्बी हो गयी हो तो क्या पता ?'—'देखो ! मेरी सर्वज्ञता मानों कुण्ठित हो जाती थी तुम्हारे साधनकी लगनको, गरिमाको आँकनेमें ।'

'प्रियतमे ! मेरे प्राण आज भी लज्जाका अनुभव कर रहे हैं तुम्हारे निरन्तर निमीलित बने नयन-सरोरुहोंकी स्मृतिसे और—अपनी चञ्चल आँखोंकी नीरसताके चिन्तनसे ''।'

(२०)—'ऐं मैया ! तू जरा इसे छूकर बता कि यह सो रही है कि केवल सोनेकी नकल कर रही है ?'—'तुम्हें स्मरण होगा—ध्यानकी तन्मयतामें तुम दृश्यको सर्वथा विस्मृत कर चुके थे—आजसे बहुत दिवस पूर्व ही । और उस समय मैं तुम्हारे पास खड़ा होकर जो तुम्हें जगानेका प्रयास कर रहा था, उसमें मेरी सर्वसमर्थता भी मानों पंगु बन गयी थी ।'

'प्राणेश्वरी ! स्मृति लेकर आया था मैं उसके द्वारा पद्म-परागको मेरी आँखोंपर बड़ी चतुराईसे फूंक देनेकी प्रवृत्तिकी और छम-निद्राके अन्तरालसे तुम्हारे मनोभावोंको पढ़ता आ रहा था उस दिन। तीन घड़ी तक निरन्तर वेश-भूषासे सज्जित होकर आनेकी, उसके व्यर्थ हो जानेकी स्मृति तक तुम्हें नहीं थी । हाय रे ! आधे क्षणके लिए भी कालके प्रवाहमें मैं तुम्हारे विशुद्ध अनुरागको छू सकता ''।'

(२१)—'देख मैया ! इसके पेटमें गुदगुदी कर, सोई होगी तो जाग जायगी, नहीं तो हँस पड़ेगी '''।'—तुम समझ नहीं पाये थे, उस दिन मैं सोच रहा था, तुम्हें नैर्गुण्यमें परिनिष्ठित कर दूं अथवा अपना संयोग-दान करूँ। किंतु तुम्हारे भावका प्रवाह दोनोंकी ओरसे उदासीन रहकर अपनी गरिमामें प्रसरित हो रहा था। पुनः मेरी 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' की सामर्थ्य मुझे छोड़-सी गयी ।'

'मेरे असंख्य प्राणोंके प्राण ! तुम्हारी मुझे सुख-दानकी अभिलाषा उस दिन जिस गरिमासे मूर्त्त हुई थी, यदि उसके एक कणका भी प्रतिदान मैं दे पाता तो मेरा जीवन कृतार्थ हो जाता । स्वसुखवासनाके आत्यन्तिक अभावका वह निदर्शन अनन्त कालतक मेरी दृष्टिको नीचे ही किये रहेगा । प्रतिदानकी लालसाकी ऐसी निर्बीजता

कदाचित् कभी मुझमें भी त्रुटिभरके लिए ही स्वप्नमें ही मूर्त्त हो जाती···।'

(२२)—'अथवा इसके मुँहमें थोड़ा दही तू डाल दे, यदि खाने लगेगी तो समझ लेना, जगी हुई है ; किंतु यदि नकल कर रही होगी तो चुपचाप दही ढरका भी देगी।'—'और उस उषाकालके समय जब मैं अपना मन तुममें मिलाने चला था, उस समय तुम्हारे असमञ्जसकी वृत्ति कैसी हुई थी, वह भूल ही नहीं सकूँगा।'

'प्राणोंकी रानी ! अनन्त काल तकके लिए वेदनाके अश्रुको वरण कर लेना तुम्हारी ही महिमा है। क्या तुम्हारे चरण-सरोरुहकी एक रज:-कणिकासे अपनी आँखोंको आँजकर मैं भी कभी दो बूँदें गिराकर अपने पीले दुकूलको सिक्त कर सकूँगा···?'

(२३)—'मैया ! तू कोई उपाय कर, जिससे मैं जान सकूँ कि यह सोई है या सोनेकी नकल कर रही है।'—'और फिर चैत्रवनके पुष्पोंकी ओटमें तुम्हें लाकर प्रकृतिस्थ करनेका मेरा विचार मुझे कितना हास्यास्पद लगा था, वह कहनेमें भी मुझे लज्जाका अनुभव हो रहा है।'

'प्राणाधिके ! स्वप्नके उस उदुम्बर वृक्षकी स्मृति लेकर तुम्हारे उस उन्मादकी मुखश्री मुझे इस क्षण भी विक्षिप्त बना दे रही है ···।'

(२४)—'अरे ! इसके तो सारे परिधान गीले हो रहे हैं ! तो यमुनामें नहा-कर आयी है, या स्वेदसे भीग गये हैं इसके वस्त्र ! तो मैया ! तू इसके लिए अपने घरसे लहँगा लादे और ओढ़नी भी···।'—'तुम्हीं मैं हूँ, मैं ही तुम हो। और फिर मैं भी हूँ, तुम भी हो। बतलाओ मेरे हृदय ! कैसी अनुभूति हो रही है इस समय तुम्हें।'

'प्रियतमे ! प्राणाधिके !! प्राणेश्वरि !!! तुम्हारे बिना मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं, न था, न होगा।'

नन्दनन्दनकी उपर्युक्त प्रश्नावलिके अन्तरालमें किसीकी कृपा-अभिषिक्त आँखें इन संकेतोंका सुस्पष्ट दर्शन कर ही लेंगी—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

ज्वाला !······अन्धकार······!! स्वाहा······!!!

सुनो ! सन्ध्याकी अरुणिम किंतु धूमिल रश्मियाँ क्षितिजको आत्मसात् कर चुकी थीं। अशकुन हो रहे थे किशोरीको। कुन्तलमें गुम्फित सुमन सहसा म्लान हो गये। नयनोंका अञ्जन तरल होकर कपोलोंपर ढलक पड़ा। और जिस अवनीपर किशोरी बैठी थीं, उसपर भी न-जाने कितनी मात्रामें अञ्जनकी काली रेखाएँ अङ्कित हो गयी अपने-आप। सौरभ बिखेरते विलेपनके कनक-पात्र ढलक गये और हाय रे ! किशोरीके कण्ठका नीलम-हार छिन्न होकर उर:स्थलसे नीचे गिर गया।

धक्-धक् कलेजा कर रहा था किशोरीका। इन अशकुनोंका कोई अर्थ नहीं पा रही थी वह। इतनेमें उसे भान हुआ——आज समीरकी साँय-साँयमें क्रन्दनकी प्रच्छन्न ध्वनि अनुस्यूत है और उस बेलाकी नीरवता मानो किसी महाअशुभकी ओर इङ्गित कर रही थी।

उपवन-परिसरकी अट्टालिकाके उत्तुङ्ग ऊपरके कक्षमें किशोरी विराजित थी। और आज ही ऐसा संयोग था, पहले कदापि ऐसी घटना घटित नहीं हुई थी—किशोरी एकाकिनी थी। अमङ्गलकी आशङ्कासे उसके प्राण काँप उठे और वह अपने हृदगत भावोंको व्यक्त करनेके लिये, अपनी प्रतिक्रियाका अपनी सहचरियोंको भान करानेके लिए नीचेकी ओर दौड़ पड़ी। दो सहचरियाँ नीचेके कक्षमें थीं, किंतु उनका मुख अत्यधिक उदास था।

किशोरीकी आँखोंमें अँधेरा भर आया। भय उसमें विभ्रमका सृजन कर रहा था। और पहली स्फुरणा उसके अन्तर्देशमें जगी—'ओह ! कहीं मेरे प्राणनाथका, नीलसुन्दरका कोई अनिष्ट तो नहीं हुआ है ! और इसीलिए मेरी इन दोनों प्राण-सहचरियोंकी मुद्रा इतनी खिन्नतासे पूरित दीख रही है।' सिर थामकर वह वहीं बैठ गयी, लुढ़क-सी चली थी ; पर न जाने क्यों, कैसे, गिरते-गिरते बच गयी !

प्रौढ़ा सहचरीने उसे अपने भुज-बन्धनमें बाँध लिया। सहचरी चाह रही थी, कुछ बोल दे ; किंतु भान था उसे—सुनते ही किशोरीका हृदय फट पड़ेगा ; यदि कहीं किंचित् भी आभास पा सकी वह उस बातका, जो उससे छिपायी जा रही थी।

दोनों सहचरियाँ देख रही थीं किशोरीकी ओर और उनकी आँखें कुछ कह भी रही थीं। किंतु किशोरी इतना ही भाँप सकी कि इनकी आँखोंमें व्यथाका स्रोत फूटने जा रहा है। किशोरीकी कुम्हलायी आँखें देखती भर रह गयी उनकी ओर—क्या पूछती वह, हृत्तल दुर-दुर करने लगता था।

···और अन्तमें सहचरियोंके दृगोंसे उत्तप्त धाराएँ बह चलीं। वह गुप्त समाचार उनके अन्तर्देशमें आवृत्त न रह सका। जल-जलकर निकल पड़ा—धाराका तापमान इतना प्रबल था। और टूटे-फूटे शब्द व्यक्त हो ही गये—'बहिन मेरी ! हाय रे !! नीलसुन्दर इस वनसे दूर, अब दूर जा रहे हैं वहाँ, वहाँ—वहाँ, जहाँ वह क्रूर नराधम राजा···राजा रहता है।'

भावी महाप्रलयका आभास आरम्भ हो गया। ज्वालाओंसे घिर गयी किशोरी। नयन स्पन्दन-हीन हो गये और पुतलियाँ टँगी रह गयीं, मानों वे प्राणीको उड़ जानेके लिए पथ दे देने को प्रस्तुत थीं। किंतु प्राण भी उड़ते कैसे—गतिहीन जो हो चुके थे, और उनके ऊपर दुःखका इतना भार—भारका अम्बार लग चुका था, जो वे तिलभर हिल तक न सकते थे। वे ज्यों-के-त्यों अपने स्थानपर ही पिस-से गये। उत्क्रमणका प्रश्न नहीं था अब, लयका द्वार ही अवशिष्ट रहा था।

विलयकी सीमापर वे अवस्थित थे, किंतु अकरुण नियतिका विधान अनेकों वर्षों तक जलते रहनेका जो था। इसलिए ही प्राणोंको यह सौभाग्य न मिला और नीलसुन्दर सामने आ गये। देश-काल भी परिवर्तित हो गये। रजनीका विराम हो गया था। आठों घटिकाएँ बीत चुकी थीं और वहाँ कुञ्जस्थल था। एकाकिनी किशोरी नीलसुन्दर के अङ्कमें विराज रही थी ; साँवर अत्यन्त म्लान थे। बाह्य चेतना आने पर किशोरीने, किशोरीके दृगोंने यही देखा—यही अनुभव किया, और भाव-संधिके एक बिन्दुका आभास लेकर किशोरी अनुभव करने लगी—'जगन्नियन्ताकी अहा ! कितनी करुणा है मुझपर ! उस नृशंसके देशमें जाकर मेरे प्रियतम लौट आये हैं !' उत्फुल्लताकी ये किरणें आधे पलतक किशोरीके नयनोंमें नाचती रही, किंतु सत्य तथ्य क्या था, नीलसुन्दर की मुखमुद्रा कह बैठी ही। अवकाश रहा नहीं—किशोरी कुछ भी नीलसुन्दरसे कह सके अथवा नीलसुन्दर कुछ कह सकें प्राणप्रियासे। चारों दृगोंसे अनर्गल उत्तप्त वारिधारा प्रसरित हो रही थी। मात्र इतना ही कुञ्जस्थलकी लता-वल्लरियाँ देख रही थीं।

रह-रहकर किशोरीकी चेतना लुप्त होती और रह-रहकर नीलसुन्दरका विवेक भी पूरा-पूरा कुण्ठित हो जाता—नहीं-नहीं, विलयके अतल तलमें समा जाता।
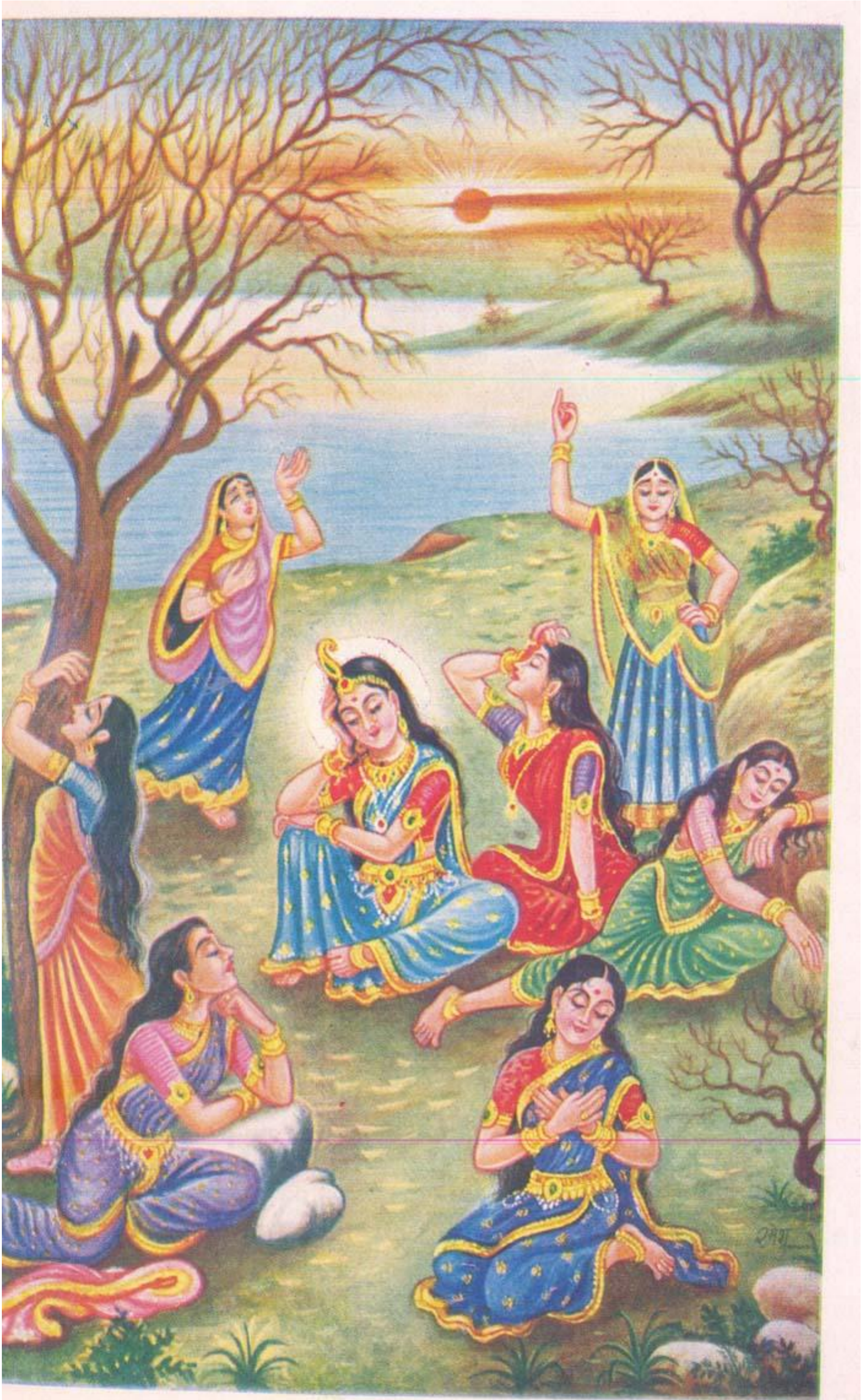
अनुरागके महासमुद्रको अपने हृत्तलमें सँजोये दो हृदय तड़प रहे थे—विवेक उन्हें शान्तिका दान कर दे ; यह न तो हुआ है न कालके अनन्त प्रवाहमें होगा ही । किशोरीके हृदयकी वेदना, वेदनाका तापमान इतना गुरु—गुरुतर था, जिसे अचेतनता—मूर्छा भी सह न पायी । दो-तीन पल बीतते न बीतते उसके (मूर्छाके) अङ्ग जल जाते थे—पूरी-पूरी झुलस जाती थी और भाग छूटती वह किशोरीके तन-देश, मन-देश को छोड़कर ।

और नीलसुन्दर के नयन-सरोरुहसे निरन्तर अश्रुका निर्झर झर रहा था । उस महाक्रन्दनकी तप्त ऊर्मियोंमें, अवचेतनाकी छायामें पल-पल आगे बढ़ती रजनी अवसानकी ओर अग्रसर हो रही थी । गोष्ठका काल उस समय कुछ भी हो, यह तो निकुञ्जका देश था, निकुञ्जका काल था । और सम्पूर्ण रजनी इस महाक्रन्दनकी धारामें अवगाहन कर रही थी—श्रान्त होकर तटका आश्रय लेने जा रही थी ।

नीलसुन्दरके हृत्तलमें स्फुरणा जागी—'कैसे बिदा लूँ प्राणप्रियासे ?' विवेक-बुद्धिका सम्पूर्ण कोष रिक्त हो चुका था । टीस चल रही थी अनवरत रूपसे—जाना तो है ही, पर नीरस यात्रा, नीरस अभिसंधि, सब कुछ नीरस ··· हाहाकार !

अचानक किशोरीकी आन्तरिक भावनाओंमें, उन महातप्त ऊर्मियोंमें एक कुछ परिवर्तनका आभास परिलक्षित हो उठा और भावसिन्धुकी वह लहरी नाच उठी, जिसे आज तक किसीकी भी आँखें देख न सकी थीं—'नीलसुन्दर प्राणनाथ प्रियतमके जानेका प्रश्न बना क्यों ? इसीलिए तो कि वहाँ, उस नरपतिके नगरमें जानेमें सुखका अनुभव है इन्हें ? तो मैं इस सुखकी विघातिनी क्यों होऊँ ?'

····· किशोरी संयत-सी हो गयी । नीलसुन्दरकी ग्रीवामें किशोरीकी भुज-माला झूल रही थी । मधुस्यन्दी गिरा किशोरीके अरुण अधरों से निःसृत हो रही थी—'प्राणनाथ ! क्या सच जा रहे हो ? तो मुझे बतला दो, में तुम्हें जानेकी अवश्य सम्मति दे दूँगी ··· मैं तो इन पद-नलिनोंकी ही अनादि नित्य क्रीत किंकरी हूँ, भला ··· !'

और कहते-कहते किशोरीका कण्ठ रुद्ध हो गया । विचित्र दशा थी नील-सुन्दरकी भी । वे इतना ही कह पाये·—'मेरी प्राणोंकी रानी ! वहाँ कुछ कृत्य अवशेष हैं इस तनके । और · मन तो, मनका कण-कण तो इन पीत पद-नखमणियोंमें ही निरन्तर था, है और रहेगा ही ··।'

'जाओ, प्राणाधिक !' धीमे स्वरमें इतना ही व्यक्त हो सका। बस, वाणीका विनिमय इतना ही हो पाया। शेष नयनकी पुतलियाँ, आर्द्र रोमावलि अपनी नीरव भाषामें जो कहना था, कह गयी ··!

······और अन्तिम बारके लिए उरःस्थलका परस्पर संलग्न होना कैसा था—क्या कहूँ, क्या सुनाऊँ ? चेतना खो दोगे उसे उसे सुनते ही। और इसलिए यह इतिवृत्त अधूरा क्यों रहे ?···यह उचित न होगा। अतः सुनो, आगे वे दोनों निकुञ्जसे कैसे निःसृत हुए—

'अभी भी दोनों गरबाँही दिये हुए ही थे। यन्त्रवत् चरण-सरोरुहोंकी गति दक्षिण की ओर हो गयी ; कलिन्द-नन्दिनीकी धाराको दोनोंने पार कर लिया और वनस्थलका वह द्रुम आ गया, जहाँ वे प्रतिदिन कुछ घटिकाओंके लिए विदा लेते थे। किंतु उस स्थल पर आते ही बात-व्याधिसे प्रभावितकी भाँति सम्पूर्ण चरणदेश—दोनोंका ही—झनझन कर उठा ।'

··· क्षमता न रही किशोरीमें कि अब वह अपने नयनों को उन्मीलित रख सके। पुतलियाँ मानों कह उठीं—'क्यों देखें नीली वामभुजाकी मालाको स्कन्ध-देशसे अपसारित होते।' किंतु फिर भी पलकें स्थिर न रह सकीं। दस-बारह पलके अन्तरसे पलकें बरबस खुल गयीं। नीलसुन्दर अपने दृगों में लोरकी लड़ी लिए दो पद दूर खड़े थे···।

'दोनों कर-पल्लवोंसे वक्षःस्थल थामे किशोरी मौन खड़ी देख रही थी ··। किशोरीका मस्तक सम्मतिकी मुद्रामें किंचित् कम्पित हो जाता था और तभी नीलसुन्दर उस दिशामें (नन्दभवनकी ओर) एक पदविन्यास कर पाते थे। ऊषा म्लान दृगोंसे इसे निहार रही थी, वनस्थल फूँ-फूँ रो रहा था। जब साँवर गोपेशपुरीके उस कानन-जालमें विलीन हो गये, तब अचानक किशोरीके चरणोंमें गति आयी ; उन्मादका प्रवल प्रवाह उसके कण-कणमें परिव्याप्त हो उठा। वह दौड़ी उसी पगडण्डीपर उनके पीछे। · आज सहचरियोंने उसे नहीं रोका ; वे भी उन्मादिनी हो दौड़ी जा रही थीं उसके पीछे-पीछे। वे केवल इतनी ही सावधान रह सकी थीं—किशोरी गिर न जाय। इतनी ही चेतना उनमें बच रही थी। पगडण्डीपर झूमती हुई वन-वल्लरियाँ धरापर प्रसरित लताएँ किशोरीके चरणोंसे उलझतीं अवश्य ; किंतु उसके तनकी ऊष्मासे वे धक्-धक् जलने लग जातीं और इसीलिए वे उसे तुरन्त छोड़ देतीं ··पथ मिल जाता किशोरीको !'

'...... दस पलमें ही वह नन्दालयके तोरणद्वारके समीप जा पहुँची—कैसे, कौन जाने, कौन कहे ? नीलसुन्दरकी जननीके बहिद्वारपर, तोरणके समीपही आज वह जाकर प्रथम बार बैठी ; भीतर कक्षमें न गयी। सुस्पष्ट थी सबकी आँखोंमें उसकी उन्मत्त दशा। अलकें उन्मुक्त थीं, ओढ़नी सिरसे धरापर गिर गयी थी, कटिसे ऊपर मात्र कुञ्जीका आवरण बच रहा था। किसी भाँति सहचरियाँ उसके तनपर आवरण-का निर्माण कर सकीं। अब किशोरीमें लज्जाकी, अपने तनकी आत्यन्तिक विस्मृति जो हो चुकी थी ......। हृत्तल में अवश्य ही हुतभुक्की भट्ठी धक्-धक् जल रही थी। फिर भी प्राण कैसे बच रहे थे–यह मैं तुम्हें कह न सकूँगा ; तुम सुनकर भी समझ न सकोगे।'

'नन्द-सदनके भीतर कालोचित सभी व्यवस्थाएँ पूरी हो चुकी थीं। साँवरके साथ जानेवाले यात्री प्रस्तुत थे। गोपेश भी खड़े थे। शिशु-शखाओंकी मण्डली भी वहीं विराजित थी। नीलसुन्दर एवं अग्रज के बाहर आनेभरकी देर रह गयी थी। अब भी सदनके अन्तर्देशमें मैया दोनोंके श्रृङ्गारकी रचना कर रही थी ; पर मैयाके हाथ काँपते थे और वह श्रृङ्गार धरा न पाती थी। वह क्षण-क्षण में भूल जाती थी... क्या, कैसे करना है।... अवश्य ही वह अत्यन्त सजग थी—एक बूँद भी अश्रु न गिर जाय ; मेरे लालका अमङ्गल न हो जाय। नीलमणिके ऐसे गमनके समय मेरे द्वारा किसी अशकुनका निर्माण न हो जाय। जैसे-तैसे आखिर साँवरको, अग्रजको अपने ही प्राणोंके स्नेहसे सिक्तकर मैया उन्हें बाहर ले आयी। और · और · नीलसुन्दर भी रथ पर जा बैठे। विस्फारित नयनोंसे किशोरी दूर खड़ी यह दृश्य देख रही थी। उसकी निःस्पन्द पुतलियाँ प्रस्तर-पुतलीकी भाँति बन चुकी थीं।'

'अचानक फटे हुए, किंतु अत्यन्त ऊँचे स्वरमें वह पुकार उठी—'देखो !, देखो !! भूकम्प हो रहा है। वे टूट-टूटकर द्रुमजाल गिर रहे हैं ! अरे ! दौड़ो, सब दौड़ो, इस रथके पहियेमें प्रविष्ट हो जाओ। थाम लो इसे बचा लो इसे। इसपर एक शाखा-खण्ड भी न गिरने पाये। और यह धरा नाच रही है रे ! अरी ! क्यों सब, तुम सबकी सब ·· ··!'

'एक किञ्चित वयस्का सहचरीने उसके होठोंपर अपनी अँगुलियाँ रख दीं। पर अब तो सबकी दृष्टि केन्द्रित हो चुकी थी किशोरीपर ही। उसकी गिरामें वेदना-की ऐसी ऊर्मि परिव्याप्त थी, जिससे एक साथ हो, क्षण बीतते-न-बीतते सबका धैर्य छिन्न-भिन्न हो गया।'

"···उस महाविषम परिस्थितिको साँवरकी कातर आँखोंने सँभाला ! बार-बार साँवरके आकुल दृग –किशोरीकी पुतलियोंसे संनद्ध होते और किशोरीका मस्तक अनुमति देता-सा किंचित् हिल जाता। अश्रुकी दो बूँदें नीलसुन्दरके कपोलोंपर ढलकीं। इस बार किशोरीकी पुतलियाँ झुकी-सी होकर हिल गयीं। साथ ही रथका पहिया धीरे-धीरे घड़-घड़का रव करके चल पड़ा···।

"यह घड़-घड़का रव एक-एकपर, जो साथ न जा सकी थीं, न जा रही थीं, उनपर अपना प्राणहारी प्रभाव व्यक्त करने लगा। कदली-थम्भ-जैसी वे क्रमशः कट-कटकर गिरती जा रही थीं—क्रूर कालका उद्दाम चक्र इस अबला-वनपर चल पड़ा था। जो कम्पित हो-होकर उस दुर्धर्ष संहार-चक्रसे बच पाती थीं, बच पायीं; उन कमनीय कदलि-श्रेणियोंको, हाय रे ! उसने समूल उत्पाटित कर दिया। और सुनो ! देखो, वह उन्हें साथ ही लिये जा रहा है···। महाप्रलयका यह महाभीषण झंझावात है रे ! देखो—ओह ! अभी-अभी तो यह उठा था। कितना दुर्धर्ष वेग कुछ क्षणोंमें ही इसका हो गया है। हाय रे ! रथकी गतिसे ही इसका वेग बढ़ रहा है, प्रत्यक्ष देख लो···।

"इस झंझावातसे आवृत किशोरीकी ओर देखो ! देख रहे हो ? उसका तन उड़ता जा रहा है, भला ! और आँखोंको झुकाकर देखो ! झंझाका प्रकोप अन्तस्तलमें कितना प्रबल है ! हाय रे !···मस्तिष्ककी भीषण आँधी क्या परिणाम सृजन करेगी···? हा-हा-हा-हा हँस रही है किशोरी और दर-दर आँखें बह रही हैं उसकी ! क्या होगा...?

"तो यह उदुम्बर-तरु आ गया। बस, यहींसे मधुपुरीका पथ मुड़ेगा···यह क्या ? साँवर रथपर उठ खड़े हुए। अँय ! अँय !! अँय !!! यह नीली ज्योति सत्य-सत्य दो-सी हो गयी···एक तो किशोरीके हृद्देशमें समा गयी और दूसरीको लेकर रथ भाग गया, छिप गया···। बस, अन्धकार—और कुछ नहीं···।

इस गिरिशृंगकी ओटमें, वनस्थलके सघन जालमें रे, रथ तो दृष्टिपथसे ओझल हो गया। आधा पल भी तो नहीं गया। देखो, किशोरीके मुखसे अट्टहास ! वनका कण-कण प्रतिनादित हो उठा है। देखो, किशोरीकी भुजाएँ ऊपर उठ गयीं; चरणोंमें कितनी विचित्र गति है ! हैं ! हैं !! मानो अब चरण-विन्यास रास-नृत्यकी भङ्गिमामें बँधे हों···तो क्या रासका समय हो गया है ?

'बहिनो ! नाचो, नाचो, मैं तुम्हें नाचना सिखाऊँगी। सुनो, प्रीतिकी जय हुई है। बहिनो ! मेरी जय बोलो — नहीं-नहीं, उनकी, उनकी, उनकी— जय ! जय !! जय !!! बोलो जय ! जय !! जय!!! ··उनकी, उनकी, उनकी···।'—वन-प्रान्तर मुखरित हो उठा किशोरीकी इस ध्वनिसे। यह क्या ? धरा गलने लग गयी ! वह देखो, अत्यन्त समीपका वह प्रस्तर किशोरीके तनसे निःसृत ज्वालाका स्पर्श पाकर पिघल गया; अरे ! पानी बनकर बह रहा है···।

'किशोरी जीवित नहीं रहेगी'—सहचरियोंके प्राण हाहाकार कर उठे। किसी भाँति कुछ क्षण प्राणोंका योग बना रहे, इस चिन्तासे सबका मन भावित था। कौन-सी युक्ति हो ? कुछ तो करना ही है ; अन्यथा किशोरीके प्राण साँवरके सहचर तुरंत बनेंगे ही। और यह विश्व घन-तिमिरसे निरवधि आच्छन्न होकर ही रहेगा ।''

'अरी बहिन ! चलें, हम सभी वनमें चलें ! बहुत अधिक विलम्ब हो चुका है, री ! अबतक सुमन-चयन भी न हो सका। हम सबोंकी प्रतीक्षामें नीलसुन्दर एकाकी खड़े-खड़े म्लान हो रहे होंगे, बहिन !—''एक सहचरी साहस बटोरकर इतना-सा बोल ही पड़ी। किंतु उसकी छाती फटती चली जा रही थी। दृगोंमें कृत्रिम उल्लासकी मुद्रा लिये, गिरामें कृत्रिम उत्साहकी छाया लिये वह थी अवश्य, पर उसका हृदय टूक-टूक होता जा रहा था। वह बार-बार झकझोर रही थी किशोरीको, जैसे-तैसे उसे भुलावा देनेका प्रयास कर रही थी।

'' किसी अचिन्त्य प्रेरणासे किशोरीकी वृत्ति केन्द्रित हुई उस सहचरीकी ओर, सहचरीके नयनोंपर। निर्निमेष चक्षुओंसे किशोरी कुछ पलोंतक देखती रही उसे और कदाचित् उसे पहचान भी गयी ।

'अरी बहिन ! मैंने एक स्वप्न देखा है। अत्यन्त भयंकर स्वप्न था री ! देख, मेरे प्राण काँप रहे हैं। सुन तो, क्या सचमुच अभी ऐसा ही यहाँ होनेवाला है री ? तू दुःस्वप्नोंका परिहार जानती है ? कोई-सा अमोघ परिहार बता दे, बहिन ! मैं अभी-अभी पहले उसका आश्रय लूँगी और तब वनमें जाऊँगी पुष्प-चयन करने, बहिन ! ओह ! साँवर, मेरे प्राणनाथ नित्य सुखी रहें, मेरा भले ही जो होना हो, वह हो जाय !' — उन्मादभरे स्वरमें, एक साँसमें किशोरी बड़-बड़ कर गयी।

''किंतु रथके पहियोंका चिह्न तो सामने प्रत्यक्ष था। पुनः किशोरीकी आँखें उसपर ही केन्द्रित हो गयीं। सहचरीकी कृत्रिम फुल्लता अब उसे ठग न सकी। धक्-

धक् भट्ठीकी ज्वाला और भी प्रदीप्त हो उठी। अवश्य ही इस बार ज्वाला एक अभिनव बाना धारण किये व्यक्त हो रही थी।"

"देख, बहिन ! वह कौआ मुझे कुछ संदेश दे रहा है री ! मेरे प्राणनाथ नीलसुन्दर सुखपूर्वक वहाँ पहुँच गये हैं—इतना संकेत तो मैं इस काककी वाणीसे निश्चित पा चुकी हूँ, अब आगे तू उससे बात कर ले। पूछ ले, 'उस दनुजराजने अपनी इहलीला संवरण कर ली क्या ? और, और, और मेरे प्राणनाथ यहाँके लिये रथपर आसीन हो चुके हैं क्या ? रथ चल पड़ा है क्या ? वृन्दा-काननसे कितनी दूरपर पुनः लौट आया है···? अथवा कुछ विलम्ब है क्या ? हाय रे, ज्वाला···आग, अन्धकार···स्वाहा '—"अस्फुट उक्ति किशोरीके मुखसे निःसृत हुई अवश्य, किंतु आँखें पथराने लग गयीं। सहचरियोंके हाहाकारसे वनस्थल गुञ्जित हो उठा।

"इस महाकरुण रवने अन्तर्देशमें बढ़ी हुई वेदनाको पुनः बाहर आनेका द्वार दे दिया। अत्यन्त विह्वल किशोरी फूट-फूटकर रोने लग गयी। ऐसी रोयी कि ··वन्य जन्तु सचमुच, सचमुच, उसके साथ हू-हू कर रो रहे थे; विहङ्गम चीत्कार कर रहे थे और क्रमशः शत-सहस्रकी संख्यामें भद्-भद् कर तरुशाखाओंसे गिरते जा रहे थे—प्राण-शून्य होकर। मानो सम्पूर्ण समीरमें कालकूट विष परिपूरित हो गया हो—किशोरीके क्रन्दनका ऐसा भीषण परिणाम चारों ओर व्यक्त हो रहा था। और दूसरे ही क्षण एक साथ ही एक महाघोर रवसे वनस्थल नादित हो उठा— एक साथ ही सम्पूर्ण चतुष्पद भी सदाके लिये प्राणशून्य होकर ज्यों-के-त्यों, जहाँ-के-तहाँ ढेर हो गये। तरुराजि सर्वथा निस्पन्द थी; मात्र अवशिष्ट थी किशोरीके, सहचरियोंके, क्रन्दनकी ध्वनि ··।

"अश्रुके निर्झरमें अवगाहन करती हुई किशोरी अग्रसर हुई। अनुसरण कर रही थी वह पहियेकी चिह्नरेखाका। क्षण-क्षणमें रुक जाती। व्यथाका भार अश्रु बनकर जितने परिमाणमें बाहर निःसृत हो जाता, उसके अनुपातसे ही किशोरीके चरणोंमें गतिका संचार होता था।

"निरन्तर सहचरियोंका जाल उसे सँभाल रहा था। फिर भी किशोरी कितनी बार पछाड़ खाकर गिरी— हाय रे ! कौन बतावे ? जब उस पीत तनका गाहक ही चला गया, तब उसे वह क्यों रखती ? क्यों उसकी सँभाल करती ? उसे तो, उस तनको तो अब निष्प्राण-सी बनी सहचरियोंको ही ढोना था अपनी निस्पन्द पुतलियोंपर, अपने गतिहीन करतलोंपर···।

"आज पथ न जाने कितना लम्बा हो गया था। उसका अन्त किशोरी पा नहीं रही थी, और नीली सरिता उसके नयनोंके पथमें आ नहीं रही थी। जहाँ, जिस स्थलपर उस रत्नशैलको – गिरिराजको छू-छूकर नीली प्रवाहिणी बङ्किम पथसे दिशा-परिवर्तन करती थी, वहाँ पहुँचते-पहुँचते मध्याह्न होने जा रहा था ...।

"इन इनी-गिनी घड़ियोंमें किशोरीका करुण विलाप कितना, कैसा हृदय-विदारक था और सहचरियोंपर क्या बीती थी, और परस्पर किशोरीमें, सहचरियोंमें क्या,- कैसे वाणीके विनिमय हुए थे—इसे सुनकर, सुनना आरम्भ करते ही आगेके इतिवृत्तको नहीं सुन सकोगे! अतएव रहने दो इसे यहीं! और आगे नीली कल-कल-निनादिनीकी लहरोंमें किशोरीने जैसे अवगाहन किया था, उसे ही सुन लो...। अस्तु,

"कल्लोलिनीके उस तटपर, जहाँ गिरिवर अपने चरणोंको प्रक्षालित कर रहा था, किशोरी वहीं पहुँची और अपनी अञ्जलिमें नीले नीरको भर लिया उसने। ···अपने मस्तकको उस वारिसे अभिषिक्त कर बोल उठी—

'बहिन नीली शैवालिनी! आज मैं तेरे समीप रोने आयी हूँ। अरी! क्या तू मुझे अपने उरःस्थलकी किंचित् शीतलताका दान करेगी? मेरे प्राण, तन– सभी जल रहे हैं, बहिन! तेरे शैत्यका स्पर्शकर ये भी शीतल हो जायँ, क्षणभरके लिये ही ···मैंने तेरा अपराध किया है। मैं गर्वमें भरी थी, बहिन! उस समय मेरे प्राणनाथ नीलसुन्दर नित्य साथ थे मेरे। उन्हे निरन्तर अपने समीप अनुभवकर इठलाती फिरती थी मैं। उनके नील कलेवरपर एकछत्र अधिकार पाकर मेरी मति बौरी हो गयी थी। कितनी ही बार मैंने तुझे अपने पदोंसे ठुकराया है, बहिन! देख, मेरे दृगोंमें नीला श्रीमुख भरा था, निरन्तर पूरित था और मैंने तेरी परवाह न की। नीला कर-सरोज मेरे कण्ठको आवृत किये रहता था और मैं तुझे गिनतीतक न थी—तुच्छातितुच्छ अनुभव करती थी। नीले तनका सौरभ मुझे सतत मत्त बनाये रहता था और मैं कभी तेरे समीप न आयी। एक नीले तरुका आश्रय मुझे मिल गया था; उसपर राशि-राशि अमृत-फल समुदित होते रहते। मैं उन्हीं फलोंका रस पीती रहती और तुझसे कभी मिलने न आयी। देख, नीले मुखका मधुस्यन्दी रव सुना करती और इसीलिये तेरे कल-कलकी उपेक्षा कर देती थी। मुझे नीले अङ्ककी शय्या मिल गयी थी; तेरी गोदीका स्पर्श मुझे सुहाता न था। नीले कराम्बुज मेरे पदोंको सेते रहते, इसीलिये तेरी सेवा मुझे न रुचती थी। वह नीली अलकावलि मेरे श्रमकणका मार्जन करती और मैं तुझे भूल बैठी ।'

"किंतु सुन, बहिन ! अब वह मेरी निधि, अप्रतिम नीली निधि मुझसे छिन गयी है; अब मैं भिखारिणी हूँ। कल जो मैं इन सब निकुञ्जवनोंकी सत्य-सत्य महारानी थी, वही आज मैं दीना भिक्षुकी हूँ। मेरा सब गर्व चूर्ण-विचूर्ण हो चुका है। अत्यन्त नगण्या बन चुकी हूँ मैं। और इसीलिये अब आज मैं तेरे शीतल अङ्कमें ही सदाके लिये सोने आयी हूँ, बहिन !··· तू मुझे निराश न करना, भला ! मुझे ठुकरा मत देना। मुझसे जो तेरा अनादर हुआ है, उसे विस्मृत कर देना। अपने अप्रतिम शीलसे, अपने निस्सीम अनुग्रहसे ही तू मुझे अपने नीले शीतल उरःस्थलपर ठौर दे देना···—।" —टूटे कम्पित स्वरमें किशोरी बोलती ही चली गयी।

"किंतु कलिन्दनन्दिनी बहिन ! उस चिर-विश्रामसे पूर्व, उस शयनसे पूर्व मैं तुझे कुछ और बातें भी कह दूँगी। तू परम दयामयी है, बहिन ! जब तू मुझे आश्रय दान कर देगी, तब उसके उपरान्त मेरी यह सेवा भी अवश्य कर देना। ऐसा मैं क्यों कह रही हूँ, बतलाऊँ ? मुझसे तो मेरे नीलसुन्दर प्राणनाथ भले ही अलग हो जायँ, किंतु वे तुझे कदापि न छोड़ेंगे, तेरा परित्याग न करेंगे, बहिन ! और तू तो वहाँ भी है ही, जहाँ मेरे प्राणाधार—प्राणसारसर्वस्व हैं, जिस नगरीमें विराजित हैं ···!"

"तो सुन, बहिन ! वे अवश्य आयेंगे अपने-आपको तेरे रससे शीतल करने। मैं, मैं तो अभागिन उनके पदपद्मोंकी रजसे, रज-कणिकासे भूषित न हो सकी—ऐसा ही मेरा दुर्दैव था···" किंतु मेरी यह अभिलाषा अब तू ही पूरी कर देना। सुन, बहिन ! मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर उनके चरण-सरोरुहको प्रक्षालित कर देना, भला···।"

"और सुन, कुछ गुप्त हेतुओंसे वह सुख ··उनको मैं दान न कर सकी। हाय रे ! वे तरसते ही चले गये—मुझसे निराश होकर। वह क्या सुख था, बताऊँ ? अब तू सुन ले बहिन ! मैं अपनी ओरसे पूरी उमङ्गका विनियोगकर अपने उरःस्थलपर उन्हें धारण न कर सकी। अपनी ओरसे दौड़कर उन्हें अपने भुजपाशमें वेष्टित न कर सकी। तू मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर यह सुख उन्हें अवश्य दे देना।'

"और सुन, मैं सोचती ही रह गयी—उनका, मेरे प्राणारामका, नीलसुन्दरका अभिषेक करूँ। किंतु हाय रे ! आखिर वे चले ही गये और यह अवसर नहीं आया। ···और अब वे तेरे समीप आयेंगे। कृष्ण-कुटिल अलकावली वैसे ही उनके मुखसरोज-पर झूलती रहेगी। तो उस क्षण मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर रस-सिक्त कर देना, अभिषिक्त कर देना उन्हें।"

"और सुन, वे सदा लोलुप बने रहते मेरे मुख-सौरभका आस्वादन करनेके लिये। इस ओर सतत अतिशय लज्जा मुझे घेरे रहती। हाय रे! आजतक उनका यह मनोरथ मैं पूर्ण न कर सकी। नील-कल्लोलिनी बहिन! मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर तू ही यह भी कर देना।"

"और सुन, निकुञ्जमें जब मैं सोने लगती—उस समय, उस क्षण उनमें लालसा जगती··· मेरे प्राणों की रानी! तुम किसी ऐसे चित्रका निर्माण करो, जो नित्य नवीन बनता रहे। अङ्कित कर दो उस चित्रको···तो बहिन री! उनका मुख-सरोज ही एकमात्र ऐसा चित्र था—मैं उर:स्थलपर अङ्कित भी कर देती, सत्य, सत्य, बहिन! अपने उर:स्थलपर लिख ही देती। किंतु उसका दर्शन मैं उन्हें नहीं कराती··! आह! आग लगी है मेरे प्राणोंमें ··बहिन री मेरी! मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर उस चित्रका दर्शन करा देना अब उन्हें!"

"और सुन, मुझसे वे पूछते—'अप्रतिम सुख-स्पर्श क्या है?' प्रत्येक निशामें पूछा करते। किंतु मुझे तो निरन्तर यही अनुभव होता—उनके नीले अङ्गोंका स्पर्श ही परम सुखस्पर्श है। यही अनुभूति निरन्तर बनी रहती थी। किंतु वाणीसे मैं उनके इस प्रश्नका उत्तर न दे पाती। अवश्य ही मेरे तनकी चञ्चलता संकेत कर देती। अब तू ही मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर यह सुस्पष्ट बतला देना।"

"और सुन, रजनी आती। उस समय सदा ही वे मुझसे विनोद करते—'बल्लभ! बतलाओ, मेरी यह वंशिका क्या गीत गाती है?' मैं उत्तर देती—'अच्छा सुनो! वंशिकाकी स्वर-लहरी क्या अर्थ रखती है, क्या गाती है? 'शिव, हरि, मार, बिन्दु—यही मेरे नामसे सम्पुटित है ··।' पर मैं इसका रहस्य न खोलती। अब नीली सरिता बहिन! मेरे प्राणोंमें अपने प्राण सर्वथा संगमितकर अपने कल-कल रवमें ·· इस रहस्यका उद्घाटन कर देना।"

"और सुन, प्रत्येक रजनीमें परस्पर यह प्रश्नोत्तरी अवश्य होती; हाँ, केवल भाषा बदली रहती—'प्रियतमे! चित्-पीयूष कहाँ है?' मैं कहती—'प्रियतम! दो अरुणिम नवल पल्लवोंमें है ?' मृदु-कलरवे बहिन! तू भी ऐसे ही कहना, भला। और मेरे प्राणोंमें अपने प्राण सर्वथा संगमितकर यह अवश्य करना।"

"और सुन, मेरे उर:स्थलपर वे अपने कर-किसलयसे कर्पूर-विलेपन लगाते और उस क्षण उनकी आँखें भी झर-झर झरने लगतीं। मैं उस अश्रु-निर्झरके मार्जनमें

निरन्तर व्यस्त रहती; उसे पोंछती रहती। तू भी ऐसे ही करना— मेरे प्राणोंमें अपने प्राण सर्वथा संगमितकर समीर-करतलके माध्यमसे !"

"और सुन प्रातःकी बेलामें वे मेरी आँखोंमें गोदोहनकी मुद्रा धारण किये समा जाते। मेरी पलकें उन्हें ढूंढ़ लेतीं। गोकुल परितृप्त बने, तबतक तू भी उनको ऐसे ही ढँके रहना—मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर अपने तटके द्रुम-जालोंके माध्यमसे, भला ···!"

"और सुन, दिवसके द्वितीय प्रहरमें वे अरण्यमें निवास करते थे। उस समय मेरा प्यारा भाई, अग्रज श्रीदाम मेरी सहायता करता था— मैं एक पत्र प्रेषित करती। तू भी ऐसे ही करना — मेरे प्राणोंमें अपने प्राण सर्वथा संगमितकर नलिनोंपर अङ्कित करके···।"

"और सुन, अपराह्णमें दिवाकरकी अर्चना होती···मेरी आशा-वल्लरी क्रमशः हरी होने लगती·· मैं तरणिको अर्घ्य देती थी ! तू भी अर्घ्यदान अवश्य करना—मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर, लहरोंको उच्छलित करके।"

"और सुन, संध्याकी रश्मियोंमें वे मुझे दीखते काननसे आवासकी ओर आते हुए। और जैसे ही वे मेरे समीप आते—एक कन्दुक उछाल देते; मैं उसे अञ्जलिमें पकड़ लेती······। मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर ऐसे ही आचरण करके उनको प्रसन्न करना, भला !"

"और सुन, प्रदोष आ जाता। मैं अनुभव करती—'वे मुझे ढूँढ़ रहे हैं।' और मैं नीले किंवा उज्ज्वल परिधानसे अपने-आपको सज्जित कर लेती और फिर उनके संकेतकी प्रतीक्षा करती। मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर तू भी ऐसे ही करना। कदापि, स्वप्नमें भी उनको खिन्न न कर देना।"

"और सुन, निशीथमें उनका मेरा मिलन होता और उस समय वे अपने स्वरूप-को विस्मृत कर जाते। कहने लग जाते—'मैं रमणी हूँ, रमणी'। मैं उन्हें चेत कराती। मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर तू भी सतर्क रहना और मेरे जीवन-सर्वस्व नीलसुन्दरको सँभाल लेना, बहिन ! सँभाल लेना, बहिन !"

"और सुन, उस अपर रात्रिमें भावोंकी आँधी आ जाती। उसके प्रवाहमें उनका मन उड़ता चला जाता दूर, दूर, अत्यन्त दूर ! और मैं भी साथ-साथ उड़ती

चली आती। मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर तू भी ऐसे ही उड़ चलना। उनको रसमें निमग्न कर देना—आनन्द-दान करना !"

"और सुन, ऊषा आती, और हम दोनोंकी पारस्परिक अर्चना आरम्भ होती। बताऊँ, उस समय क्या होता था ? सुन, बहिन !—प्राणोंका, तनका भी पूरा-पूरा स्वरूप-विनिमय हो जाता। और फिर क्षणमें ही पहले-सी स्थिति बन जाती। मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर, ऐसे ही बन-बनकर यह सेवा भी अवश्य कर देना। प्रत्येक ऊषामें ही करती रहना।"

"और सुन, एक-से-एक बड़ी सुन्दरियाँ अपने उर:स्थलमें अनुरागका समुद्र सँजोये इस काननमें बसती थीं, निवास करती थीं—अपना सर्वस्व उनके चरणनख-चन्द्रोंमें निरन्तर न्योछावर किये रहकर। अहो ! अरी बहिन मेरी। मैं उन सबोंको मेरे प्राणनाथसे मिला देती थी—रस-मिलन संघटित कर देती थी। तू भी मेरे प्राणोंमें अपने प्राणोंको सर्वथा संगमितकर मेरे साँवरके सुख-वर्धनका यह व्रत ले ही लेना।"

"और सुन, मेरे इतना, यह सब कहनेका केवल इतना-सा उद्देश्य है, बहिन ! कि जो सेवाएँ मैं न कर सकी और जो सेवाएँ प्रतिदिन किया करती थी—उन सबका भार अब मैं तुझपर ही डाल रही हूँ। तू अनन्तकालतक यह कर्त्तव्य निभा देना बहिन ! ....."

"सुन, बहिन ! मैं तुझसे नित्य एक बनी रहकर, तुझसे आत्यन्तिक एकतामें परिनिष्ठित रहकर यह सब देखूँगी ही, किंतु तू उन्हें कदापि मत बतलाना कि मैं तुझमें मिली हुई हूँ। अन्यथा मेरे प्राण-रमण नीलसुन्दर, मेरे प्राणवल्लभ साँवर मेरी उस प्रच्छन्न उपस्थितिसे संकुचित हो जायेंगे। अतएव तू सावधान रहना। हरदम पूरी सतर्क रहना—उन्हें मेरी उपस्थितिकी गन्धकी-गन्ध भी न लगने देना।"

"और बहिन ! यदि तू कोई उपायकर सके तो अवश्य करना—वे मुझे सदाके लिये सर्वथा-सर्वांशमें भूल जायँ, मुझे अपने मनसे निकाल फेंकें।...मैं न तो कभी थी...न कभी हूँ और आगे कालके प्रवाहमें न कभी होऊँगी—उनकी चित्तवृत्ति ठीक-ठीक ऐसी बन जाय। उनके मनसे मेरा चिन्तन सर्वथा विलुप्त हो जाय...।"

"देख, मेरे प्राणाधिक नीलसुन्दर, मेरे जीवन-सार-सर्वस्व साँवर निरवधि सुखी रहें—मैं केवल यही देखूँ। इसके अतिरिक्त मेरी कदापि कोई अन्य चाह न थी, न है,

न होगी ही। मैं सत्य-सत्य-सत्य कह रही हूँ और तेरे नील उरःस्थलपर यही अङ्कित भी कर दे रही हूँ, बहिन !"

"नीलिमामयी मेरी चिरसङ्गिनी बहिन ! कोई भले न सुने, कोई इसे न देखे, क्षणभरके लिये भी किसीके कर्णपुटोंमें, किसीके नयन-पथमें यह न आये—इससे क्या हुआ ? तू तो सुनती ही है, तू तो देख ही रही है। बहिन ! मैं तुझसे भी यह बात न बतलाती, किंतु निरुपाय थी। उनकी सँभालकी चिन्ता जो थी मुझे। अतएव यह सुना बैठी।"

"कल-कलनिनादिनी बहिन ! भाव-लहरियोंका कोई इतिवृत्त नहीं होता। भावोंकी ये ऊर्मियाँ कभी ससीम नहीं होतीं। जो अपने-अपने उरःस्थलमें नीलिमा लिये होते हैं, जिनके प्राण एक साँचेमें ढले होते हैं, उन-उनमें उन-उनसे ये संक्रमित होती हैं भला···और तेरे तो, बहिन ! कण-कणमें नीलिमा ही परिपूरित है। इसीलिये आज आकुल हुई मैं अपना उरःस्थल तेरे समीप खोल गयी हूँ—अनावृत कर गयी हूँ। तू मेरी इन बातोंको अपने जीवनमें भूल न जाना। देख, जो लहरी विलीन हो गयी, वह तो कदापि, कभी लौटकर नहीं आयेगी, पुनः नहीं स्पन्दित होगी···।"

किशोरी इतना-सा ही कह सकी और हाथ जोड़कर अपने चरणोंको कलिन्द-नन्दिनीके प्रवाहमें रख बैठी। केवल दो सहचरियोंमें उस क्षण उनके प्राणोंकी वृत्ति अवश्य शेष थी। एक तो किशोरीके साथ-साथ पीछे-पीछे बढ़ती जाती और एक पूरी जड़िमासे परिव्याप्त होकर तटपर खड़ी देख रही थी मात्र···। किशोरी नीली प्रवाहिणीके प्रवाहमें अग्रसर हो चली। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती, नीले नीरकी गम्भीरता बढ़ती चली जाती···कटि-देश डूब गया। क्रमशः किशोरीके वक्षःस्थलको स्पर्शकर धारा प्रसरित हो रही थी···। उल्लास-भरे स्वरमें रह-रहकर वह हँसती और उसके श्रीमुखसे इस मधुस्यन्दी गिराका निर्झर प्रसरित हो रहा था—

"साँवर, साँवर ही तो आगे हैं; साँवर, साँवर ही तो पीछे हैं; साँवर, साँवर ही तो दाहिने हैं; साँवर, साँवर ही तो वामपार्श्वमें विराजित हैं; साँवर, साँवर ही तो नीचे हैं; साँवर, साँवर ही तो ऊर्ध्वदेशमें प्रतिष्ठित हैं; साँवर, साँवर ही तो अन्तस्तलमें विराजमान हैं; साँवर, साँवर ही तो बहिर्देशमें परिशोभित हो रहे हैं; बस, केवल साँवर ही साँवर, साँवर, साँवर ही सर्वत्र अवस्थित हैं···।"

नीला नीर अब किशोरीके चिबुकको स्पर्श करने लगा। अत्यन्त चञ्चल होकर वह रो रहा था किशोरीके कर-नलिनोंकी अञ्जलि ऊपरकी ओर उठ गयी

·· जो सहचरी उसका अनुसरण कर रही थी, प्रवाहिणीकी चञ्चल धारामें, उसने किशोरीको पीछेसे अपनी भुजाओंमें भर लिया—अन्तिम प्रयास था उस दीनाका किशोरीके प्राण-रक्षणका ··।

नीली लहरें अब किशोरीके मस्तकके ऊपरसे प्रसरित थीं, किंतु वह अब भी वैसे ही आगे बढ़ती जा रही थी। अब मात्र दीख रहे थे किशोरीके मणिबन्धअंश··· और अन्तमें किशोरीकी पीली अञ्जलि। और धीरे-धीरे वह अञ्जलि भी नीली लहरोंमें विलीन हो गयी।

अचानक वहीं, कालके उस बिन्दुपर ही अघट-घटना-पटीयसी अचिन्त्य-लीला-महाशक्ति योगमायाका आविर्भाव हुआ। गैरिक-वसनाकी चिन्मयी नवीन मायाका विस्तार हो उठा और दृश्य बदला। कल-कल-निनादिनीका वह जल एक विपलमें ही घट गया · और वे महिमामयी किशोरीको अपने अङ्कमें लिए कलिन्दनन्दिनीके कूलकी ओर आ रही थीं। वह जलनिमग्न सहचरी भी उनके पीछे-पीछे आ रही थी—प्राण-समन्वित होकर।

वे असमोर्ध्व-महिमामयी तटके ऊपर उठ आयीं और उनके दृगोंकी बङ्किम दृष्टि गतिशील हो उठी कल्लोलिनीके कूलपर अवस्थित सबपर ही एक साथ। सबके प्राण स्पन्दित हो उठे और सबको लिये वे चल पड़ीं सुन्दरी-सरोवरकी दिशामें। आधे पलमें सरोवरका वह कगार भी आ ही गया। उनके चरण-तलका स्पर्श कर रहा था वह।

सबको उन्होंने वहीं विराजित कर दिया और वे करुणामयी बोल उठीं—"मेरी पुत्रियो! धैर्य धारण करो। देखो, इस महादुःखकी रजनीका अवसान होकर ऊषा तुम सबका अभिनन्दन करने आयेगी ही; तुम सब-की-सब साँवरसे मिलकर सुखिनी होओगी ही। अनन्त, अपरिसीम आनन्द-सिन्धुमें अनन्तकालतकके लिये निमग्न होओगी ही, लहराओगी ही।"

जगज्जननी महादेवी अम्बा यह सन्देश दानकर अन्तर्हित हो गयीं···।

रत्नमय आवासोंसे भरा हुआ सुन्दरी-सरोवरका वह गाँव भी अदृश्य हो गया। उसके वन-परिसरपर भी एक अभिनव माया फैल गयी। इस क्षणके अनन्तर उस वन-परिसरकी किंचित् भी सत्ता किसीको भी उपलब्ध न होती थी।

···किशोरीको, उसकी सहचरियोंको मानो सभी भूल गये। वे कौन थीं, कहाँ निवास करती थीं, उनके जनक-जननी कौन थे, उनका दैनन्दिन जीवन क्या था, और वे सब-की-सब कहाँ चली गयीं—इन सभी बातोंको सभी विस्मृत कर गये। सबके मानस-तलपर एक घना आवरण आ गया ··।

विरजा-धाराकी घटना सबको अज्ञात थी। उस मान-लीलाका इतिहास सबके मानस-तलमें अप्रकट था। और फिर सम्पूर्ण काननवासी साँवरके वियोगसे व्याकुल थे। यह तो विधिका विधान ही था और इसीलिए ऐसा हुआ।

यद्यपि सित रजनी थी वह, फिर भी सर्वत्र घन तिमिरका साम्राज्य था। पुन: यों तो चार प्रहरोंके अन्तरालसे दिनकरकी किरणें भी उद्भासित हो उठीं, किन्तु किशोरीकी आँखें निरन्तर मुँदी रहतीं। उसके लिये तो अब सौ वर्ष भी कृष्णनिशाका ही अस्तित्व बच रहा था और उसे निरन्तर रोना था···।

महाध्वंसका अवशेष

वृन्दा-कानन ध्वस्त हो चुका था। एक दिन जहाँ रसकी कल्लोलिनी हिलोरें लेती थी—वहाँ मरुस्थलका झंझावात परिव्याप्त था; सर्वत्र असहाय-अनाथोंका चीत्कार, हाहाकार प्रतिध्वनित था। समीर गोपसुन्दरियोंके धक्-धक् करते प्राणोंसे जाकर जुड़ता और निरन्तर ज्वालाकी वर्षा करता रहता! गोपसुन्दरियोंके प्राणोंके हाहाकारको सह न पाता था स्वयं पवन ही और भाग छूटता था असह्य ऊष्माका वितरण करते हुए। अपनेमें लिये हुए उस तापको नभमें, जलमें, थलमें भरता रहता। और हाय रे! क्या दशा थी गोपसुन्दरियोंके प्राणोंकी! वे मात्र उनकी देहमें रुद्ध थे——इस आशापर कि हमारे प्राणनाथ आयेंगे तो अवश्य।

अब गोपसुन्दरियोंके होठोंपर ताम्बूलकी अरुणिमा न थी। विशुद्ध मधुर प्यारसे भरी चितवनकी वक्रता भी अब उनके नयनोंमें व्यक्त न हो पाती थी——आधे क्षणके लिये भी। मस्तकसे झूलते कुञ्चित केशोंके स्पन्दनका दर्शन कोई भी न कर पाता था। उनकी सुन्दर वेणीको नाचते देखकर अब कोई भी विथकित न होता था। अलकोंका सौन्दर्य, वेणीका सौन्दर्य सर्वथा तिरोहित हो चुका था। उनके अङ्गोंपर अब किसी भी आभूषणकी झंकृति न थी और उनके मुखसे वीणा-जैसे स्वरकी मधुरिमासे अब किसीके भी कर्णपुट पूरित न होते थे। और हाय! उनकी देह भी, देहका आवरण भी कभी त्रुटिभरके लिये नीले-पीले परिधानोंकी ज्योति न बिखेरता था।

अब शिरीष-सुमनोंकी मृदुलता उनके अङ्गोंपर परिलक्षित न होती। अब तो क्षीण अस्थियोंका एक पञ्जरमात्र धूमिल परिधानोंमें आवृत दीखता था। अविराम अश्रुकी एक पतली धारा उनके कपोलोंपर चलती ही रहती! हाँ, जिस समय व्यथाके भारको न सह सकनेके कारण वे मूर्छित हो जातीं, उस समय क्षणिक अश्रुका तार टूटता-सा दीखता और फिर द्विगुणित वेगसे आगे चिबुक-परिसरसे होते हुए वक्षस्थलको आर्द्र करने लगता।

अब वृन्दाटवीमें विहंगमोंका कलरव नहीं था। कोकिल अपने कुहू-कुहूके रवसे गाकर रसका विस्तार वनमें न करती थी। शुक निरन्तर नीरव ही बना रहता एवं

सारिका अपने रसमय पाठसे किसी भी प्राणीके प्राणोंको रसपूरित न करती थी। और तो क्या, निरन्तर वाचाल पिरोइयाँ भी 'अरी गोपी मिल लो' इस सरस संकेतसे लवमात्रके लिये भी अरण्यको गुञ्जित न करतीं। भ्रमर भी विस्मृत कर चुका था, सच-सच, गुन-गुन करना—और एक पुष्पसे दूसरे पुष्पपर जानेकी प्रवृत्ति भी उसकी समाप्त हो चुकी थी। मृतप्राय वह उस पुष्पपर ही ज्यों-का-त्यों आसीन था—जिस समय नीलसुन्दर बिदा हुए थे, तबसे।

काननकी लता-वल्लरियोंमें हरितिमाका कोई चिह्न न था; द्रुमजालकी शाखाएँ प्राणशून्य-सी बनी, प्राणसंचारकी गतिका कोई परिचय न देतीं और वह चिर-परिचित बट-तरु, हाय रे, देखो! पत्र-विरहित हो चुका है! अरे! क्या सचमुच इसने संन्यास ले लिया और मुण्डित योगीकी भाँति वह स्पन्दनशून्य, समाधिस्थ-सा खड़ा है? नहीं-नहीं, देखो! रह-रहकर उससे टप-टप बूँदें चू रही हैं, अङ्गोंमें गतिके बिना ही रो पड़ता है वह। रह-रहकर सोच रहा है—'नीलसुन्दरने मुझे ही संकेत-स्थलका अप्रतिम सौभाग्य दिया था। वे इस प्रवाहिणीके तटपर पहले मेरी ही छायामें आकर सब ओर देखते थे और फिर इतनेमें वृषभानुनन्दिनी राधाका वह ज्योतिर्मय कलेवर मुझे दूरसे ही दीख जाता! क्षण बीतते-न-बीतते दोनों परस्पर भुजपाशमें आबद्ध हो जाते।—इसकी स्मृति ही बूँदें बनकर टप-टप झर पड़ती थीं, रह-रहकर उसकी सूखी शाखाओंके अन्तरालसे।

गिरिवरकी कन्दरामें सूनेपनका साम्राज्य था। सरोरुहोंसे निर्मितशय्या मुरझायी, सूखी थी। हाय रे! ऐसा सन्नाटा, मानो कन्दरा उदास खोई-सी बैठी अपनी आँखें उस सूखी शय्यापर केन्द्रितकर व्यथाके प्रवाहमें डूबी हुई सोच रही हो—'एक दिन था, मैं सोच रही थी आयेंगे वे दोनों अवश्य और इतनेमें उस चिन्तामें ही दिनकर अस्त हो गये! निशाका अञ्चल मैं प्रत्यक्ष देख रही थी और वे दोनों मेरे प्राणनाथ नीलसुन्दर और वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा गरबाहीं दिये आये। श्रान्त थे वे दोनों और उन्होंने इस सरोज-शय्यापर ही विश्राम किया था।'

काननके सभी सरोवर ऊर्मिहीन हो चुके थे—व्यथाके भारसे उनका हृदय हिम-जैसा होकर जड़िमाके आवरणमें शान्त-स्थिर दीखता। उनका वह सुख लुट चुका था। वेदनासे प्रस्तर बना हृदय सोचता रहता—'नीलसुन्दर आये थे, आते थे; अपनी अञ्जलिमें वे मेरे उरःस्थलका रस भर लेते! आधा रस, जल, वृषभानुनन्दिनी प्राण-प्रिया राधाके मुख-सरोजमें भर देते और फिर शेषका स्वयं आस्वादन करते।'

अब तुलसी-काननमें अंशुमालीकी गतिमें भी उल्लासका कोई चिह्न न बचा था; और वे किरणमाली अब और भी मन्द-मन्दतर गतिका ही अपने रथमें संचार करते। बड़ी ही धीमी गति थी उनकी---किन्तु उनका तापमान अपने लिये ही और भी दुःस्सह हो गया था। वेदनासे रविके उरःस्थलका कण-कण परिपूर्ण था। अब नीलसुन्दरकी स्मृति ही उनकी आँखोंमें बची थी। वे भूल गये थे कि इस वनस्थलके उस पार भी उनकी आँखें क्रियाशील हो सकती हैं। रथ आगे बढ़ता अवश्य, किन्तु अब वे सम्मानदानी यशोदाके नीलमणि उन्हें उस वनस्थलमें न दीखते और वे इस विचारमें तन्मय हो जाते---"अब मुझे कौन करेगा नीलमसुन्दरकी इस रसमयी वाणी-से सिक्त। सुषमाका मैं इस वनस्थलमें कहीं दर्शन जो नहीं कर पा रहा हूँ। 'हाय रे! देव-दिवाकर सोचते थे---"नन्दनन्दनने ही तो कहा था---'नहीं-नहीं', प्रतिदिन ही कहते---'प्राणप्रिये प्रियतमे राधे! देखो, अर्घ्यदान करो इन्हें, भानुदेवको। देखो, इनके ही निमित्तसे मैं तुम्हें पा सका हूँ। इन्होंने ही तुम्हें दान किया है मुझे। इस अनमोल निधिका स्वामी मैं बन सका मात्र इनके ही निमित्तसे। मैं क्या परिशोध कर सकूँगा इनके इस ऋणका? प्राणाधिके राधे! जब भी मैं अर्घ्यदानके अवसरपर इन्हें देखता हूँ, उस समय मेरा उरःस्थल कृतज्ञताके भारसे झुककर यही संकल्प करता है---'ये सभीके द्वारा चिरकाल अर्चित हों---सभी के द्वारा ये चिरवन्दनीय, समर्हणके अधि-कारी रहें।' दिवाकरका रथ इसीलिये असह्य वेदनाके भारको ढोनेमें असमर्थ होकर जैसे-तैसे निर्धारित क्रमका अनुसरण करता, और धीरे-धीरे चलकर केवल अग्नि बिखेरते अस्तगिरिमें विलीन हो जाता। और जब क्षितिजको सुधांशु छूने आते, तब अत्यन्त करुण अवस्था उनकी भी होती; और शैत्य खोकर वे भी हुतभुक्‌की किरणें बिखेरने लग जाते। संयोगकी बात थी--- इन मयङ्कने ही तो नीलसुन्दरके द्वारा, व्रजसुन्दरियोंके द्वारा, अत्यधिक आदर पाकर ब्रह्मनिशापर्यन्त सबको अभिषिक्त किया था और विथकित नेत्रोंसे वे उस महारासका दर्शन करते सर्वथा अपने-आपको भूल गये थे। किन्तु अब वृन्दा-काननमें राधाकिशोरी उनको दृष्टि उठाकर न देखती थीं और पावक-पुञ्ज जग उठता निशाकरके उरःस्थलमें---'हाय रे, दुर्भाग्य! कृष्ण-प्राण-प्रियाने मेरी ओर दृष्टि नहीं डाली। अभागा मैं यों ही आया हूँ।' इसीलिये कहीं भी शीतलता की गन्धतक नहीं बची थी मयङ्ककी कायामें।

जगत्प्राण सौरभहीन हो चुका था---प्रवाहित होनेकी शक्ति भी उसके अन्दर न रही थी; निसर्गके नियमों का अनुसरण कर उसमें गति तो आनी अनिवार्य थी ही, पर स्वतः उनकी प्रवृत्तिमें वैराग्य ओत-प्रोत हो चुका था। पहले तो व्रजसुन्दरियोंके श्वास-प्रश्वास उसमें अग्निका सृजन करते ही, फिर उसमें, पवनके मानस-तलमें एक

स्मृति जाग उठती —"आह ! नीलसुन्दरने ही तो हँसकर कहा था-—न जाने कितनी बार उनका वह विनोद व्यक्त हुआ था । अपनी प्राणप्रियाको छूकर वे कह बैठते— 'मेरे प्राणोंकी रानी ! परम बड़भागी तो यह नभस्वान् है । हृदेयश्वरी राधे ! यह तुम्हारे अन्तर्देशको और बाहर भी स्पर्श करता है । यह मेरे सौभाग्यकी गरिमा नहीं है कि मैं तुम्हारे अन्तर्देशको छू सकूँ ।'' किंतु अब इस प्रकार उन्मुक्त हँसी हँसकर ऐसी रसमयी उक्तिका सृजन करनेवाला रसिक वह नीला शिशु नहीं था ; और उसके अभावमें वृषभानुनन्दिनीके तनपर पुष्पोंका कोई आभूषण भी न था । वनस्थल भी सुमनोंसे शून्य हो चुका था— कहाँसे आती सौरभकी गन्धकी गन्ध भी समीरमें । एक पुष्प नहीं, वनस्थलके किसी कोनेमें भी और एक भी सुमन नहीं किशोरीके किसी भी श्रीअङ्गपर ।

हाय रे, दिन बदला तो कैसा बदला ! एक दिन था, वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके कर्णपुटोंमें साँवर कुछ धीरेसे कह देते और फिर अधरोंपर मुरलिकाको स्थान देकर उसमें न जाने किन-किन गीतोंका सृजन करते । इसकी स्मृति व्योमके कण-कणमें भरी थी —और वह सोचता—''क्या प्रयोजन है मेरी सत्ताका ? क्या अर्थ है अपने अंदर शब्द-गुणको धारण करनेका -- मेरे अस्तित्वका ?' पर समझ नहीं पा रहा हूँ कि वह उन्मादिनी ध्वनि, मुरलिकाका वह मनोहर नाद, उसकी वह रसधारा कहाँ चली गयी ?' इसीलिये गम्भीर चिन्तामें निमग्न सर्वथा असङ्ग रहकर व्योम केवल 'हा-हा-हा-हा'— का ही रव सृष्ट कर पाता । पीड़ाके आवेशमें व्योम, —आकाश भूल चुका था कि वृन्दा-काननके अतिरिक्त भी कहीं उसकी सत्ता है। अपनी सार्थकताका एकमात्र उपयोग नीलसुन्दरके वृन्दा-कानन-विलासको धारण करनेमें, अवकाश देनेमें, उनकी रसधाराको शब्दके रूपमें प्रसारित करनेमें ही वह अनुभव करता और उसके अभावमें अनिच्छासे ही उसके द्वारा केवल हाहाकारके रवका ही वितरण होता ।

काननके अधिवासी जरायुज, उद्भिज्ज, अण्डज प्राणी जो भी थे— वे सब-के-सब मनस्तत्त्वसे शून्य हो चुके थे। उनके समीप मन-नामकी वस्तु ही नहीं रही थी; उनका मन तो मधुपुरीकी ओर जाते हुए नीलसुन्दरके मुखपर उड़कर, जाकर, वहीं अपनेको विलीनकर, भागता चला गया था मधुपुरीकी ओर । अबतक लौटा नहीं था वह । हाँ ! उसकी छाया अवश्य अब भी व्रजसुन्दरियोंकी कायामें बच रही थी। मनकी प्रतिच्छाया अवशिष्ट थी उन सबमें । पर रही थी केवल-केवल रोनेके लिये, हाहाकारके रवको प्राणदान करनेके लिये ही ।

अरे ! मनकी बात दूर, बाहरकी बात अत्यन्त दूर—काननके अधिवासियोंको यही भान न था कि मैं कौन हूँ ? सामने क्या वस्तु है ? कैसी है ? उनका संसार मिट चुका था । व्यवहार शून्यमें समा गया था । वे जीवित हैं, इसका एकमात्र चिह्न उनमें यही अवशिष्ट था कि अश्रुधारा निस्सृत हो रही थी उनके नयन-कगारोंसे और आहोंका रव फूटता रहता उनके अधर-पुटोंके अन्तरालसे ! किन्तु छोड़ो अब इस करुण इतिवृत्तको—वाणी इससे आगे बढ़ नहीं सकेगी । अरे ! तुम्हारा-मेरा अस्तित्व विलीन होकर रहेगा उस व्यथाके महासमुद्रमें, अगर एक पद भी इस दिशाकी ओर रखोगे तो···सुनते हो ?···

इतना ही नहीं, सुनने जाओगे तो फिर इस महाध्वंसकी गाथा ऐसी अधूरी रह जायगी, जिसे कालके प्रवाहमें कोई संकेतक दान न कर सकेगा । अमरोंकी अमरता विलीन हो जायगी और कदाचित् दो-चार वे इस महाध्वंससे बच भी जायँ तो उनके लिये अमरता अभिशाप बन जायगी और केवल-केवल रोनेके लिये उनका अस्तित्व बच रहकर, जीवन दूभर हो जायगा । अतएव चलो, यहाँसे, हट चलो, और अब तुम्हें उस परदेसीकी, उद्धव नामके उस भक्तकी कुछ गाथा सुना दूँ । ये परदेसी उद्धवजी नीलसुन्दरके नवीन दूत बनकर आये थे । बड़े सुन्दर थे उद्धवजी । नीलसुन्दरके समान ही उनका श्यामवर्ण था और साँवरके सदृश ही वे वेष-भूषासे सज्जित थे । वे तुलसी-काननमें कुछ बात कहने—करने आये थे राधाकिशोरीसे । अन्तर्यामीकी प्रेरणासे एक खिन्ना-दीना गोपसुन्दरी सहसा बोल उठी—'अरी ! देखो सही, क्या वही-वही पुनः आया है, जो मेरे प्राणधन साँवरको रथपर चढ़ाकर, भगाकर ले गया था ?' गोप-सुन्दरीके करुण कण्ठसे निस्सृत हुआ यह स्वर सम्पूर्ण काननमें क्षण बीतते-न-बीतते प्रतिनादित हो उठा । और एक साथ सबकी आँखें खुलीं—बाहरकी ओर वे खोयी-सी देख रही थीं ।

सबकी आँखें केन्द्रित हो गयीं उस पथपर, जिस पथसे नीलसुन्दर गये थे । यही प्रातः बेला थी, जब वे इन्हें छोड़कर गये थे—मधुपुरीके लिये बिदा हुए थे । उनके सामने उद्धव उन सबको प्रणाम कर चुपचाप हाथ जोड़े खड़े थे—ऐसे, जैसे कोई गूंगा, वाणीकी शक्तिसे सर्वथा विरहित प्राणी खड़ा हो ।

व्रजसुन्दरियाँ उद्धवकी ओर देख रही थीं और वे देख रहे थे उनकी ओर । वे कुछ भी बोल नहीं पाते थे और दुःखकी महा-अग्निमें धक्-धक् जल रही थीं व्रजसुन्दरियाँ । क्षण क्षण करते चार घड़ियाँ बीत गयीं, तब अचानक उद्धव यह बोल पाये—'मैं साँवरका मित्र हूँ । नीलसुन्दरने मुझे भेजा है ।'

जैसे समान स्वरमें बँधे हुए तन्त्रके तारोंको कोई शिशु सहसा छेड़ बैठे और वे तार झंकृत हो उठें, वैसे ही साँवरका नाम सभी गोपसुन्दरियोंके कर्णपुटोंमें जाकर भावोंकी रागिनी उद्बुद्ध करनेमें हेतु बन गया। उर:स्थलमें विराजित महाभाव-समुद्र नवीन फेनसे फेनिल हो उठा।

सुनो! उद्धवको उन गोपसुन्दरियोंके द्वारा कितना सम्मान मिला—वे साँवरके सहचर जो थे। उन्हें, उद्धवको अभिषिक्त करनेके लिये उन व्रजबालाओंमें स्नेहका कितना, कैसा मनोरम उत्स फूट पड़ा था और उद्धव कैसे उसमें सर्वथा निमग्न हो गये थे—इस गाथाको सुननेके लिये तुम नीलसुन्दरके चरण-सरोरुहमें डूब जाओ; फिर वे तुम्हें अपनी आँखोंकी किंचित् ज्योतिका दान अवश्य कर देंगे। फिर देख लेना; अन्य उपाय नहीं है, भला ··

पर जब तुम इतनी उत्कण्ठा लेकर सुनना ही चाहते हो तो किंचित् सुन लो—वह इतिवृत्त अत्यन्त गोपनीय है, भला! और भी एक रहस्यकी बात है—समझ सको तो समझ लो—रसकी गति दीपककी लौके समान है, भला! निर्वात-स्थलमें तो वह अपने रूपमें परम शोभनीय रहती है—स्थिर गतिसे विराजित रहती है, किंतु ज्यों ही बहिर्देशमें वह लौ लायी गयी कि बस, समीरको छूकर या तो वह स्पन्दित होगी या निर्वापित ही हो जायगी! अस्तु,

सुनो, गोपसुन्दरियोंने विलाप—करुण विलापके पूत जलसे उद्धवके चरणोंमें पाद्यके उपचारका आयोजन किया, उनके पद धोये। किंतु इतनेमें अर्चनाकी उत्कण्ठामें मूर्छा दौड़ पड़ी—उन गोपसुन्दरियोंकी नित्य दासी थी, वह और उसने ही अर्घ्य समर्पण किया। एक साथ ही व्रजबालाएँ चेतनाशून्य होकर उद्धवके चरणोंमें लुढ़क पड़ीं। और फिर कहना कठिन है, कितनी देरके अनन्तर उनमें—व्रजवामाओंमें सिसकियोंका संचार हुआ मूर्छा टूटनेपर। यही उद्धवके प्रति उनका आचमन-निवेदन था। हाय रे! कितना करुण दृश्य था वह! जो हो, इतना होनेके अनन्तर मर्यादाकी परम्पराके अन्तर्गत होनेवाली अर्चनाका क्रम आरम्भ हो सका। आसन, जल आदिसे उद्धवका समर्हण हुआ।

अर्चना हो चुकी, किंतु अब? कैसे कहूँ? अच्छा, ध्यानसे सुनो—विस्फारित नेत्रोंसे सर्वथा बिमूढ़ हुए उद्धव उन व्रजवामाओंकी ओर देख रहे थे। और व्रजरामाएँ उद्धवकी प्रदक्षिणा कर रही थीं। इस प्रदक्षिणाके उपचारमें जब पुन: दो घड़ियाँ बीत गयीं; तब कहीं कुशल-क्षेमका प्रश्न करनेके लिये गोपबालाओंमें वाग्वादिनीका संचार

हुआ। पर, हाय रे ! अत्यन्त खिन्न परिधानमें गिरा उनके अधरपुटोंके अन्तरालसे झाँक-झाँककर पीछेकी ओर ही लौट जाती। कितनी बार लौटी और फिर बाहर आनेका साहस बटोर सकी, यह भी कहना कठिन है।

हाँ ! धीरे-धीरे भावके समुद्रमें बुद्बुदका उन्मेष हुआ—और क्रमशः फेनिल हो उठा वह भाव-पयोनिधि। वे उद्धवके न पूछनेपर हीं सुनाने लग गयीं उद्धवसे—'देखो ! साँवरके सखा !! ऐसे मेरे साँवर प्राणनाथ इस वनमें निवास करते थे। वे कैसे रहते थे, क्या-क्या करते थे, इस काननमें कैसी रसकी धारा बहती थी, सब तुम पहले हमसे सुन लो।' भाव कैसा होता है और वे गोपसुन्दरियाँ उसमें कैसी विभोर हो गयी थीं—वाणीकी तूली उसे अंकित नहीं कर सकती। इतना ही चित्रित हो सकेगा कि नीलसुन्दरके कानन-जीवनकी अत्यन्त साधारण-सी घटना, अतिशय नगण्यसी बात भी वे पगलीकी भाँति उद्धवसे बतलाती जा रही थीं और रोती जाती थीं। साँवरकी दिनचर्याकी प्रत्येक घटना समाप्त होते-न-होते गोपरामाओंका हृदय मानो फटकर बाहरकी ओर बह चलता—इतने वेगसे अश्रु-प्रवाह निस्सृत होता।

अविराम प्रसरित होकर वेदनाकी यह कल्लोलिनी एक मोड़ लेने चली, और फटी आँखोंसे वे सब-की-सब यन्त्रवत् मौन हो गयीं—एक भी कुछ भी न बोल सकी। उस ओर उद्धवके मनमें इनकी अपार दुःखराशिको दूर करनेकी प्रवृत्ति जगी; पर उस प्रवृत्तिमें ज्ञानकी अहंताका पुट था। अरे ! एक बड़ी सुन्दर और बड़ी मोटी ज्ञानकी पेटी अनावृत हो गयी—हँसकर नीलसुन्दरने ही अपने सखाको दी थी वह पेटी। उद्धवका प्रवचन आरम्भ हुआ; बड़ी सुबोध और अभिनव शैली थी ज्ञानोपदेष्टा महाराजकी और धाराप्रवाह रूपसे सप्रमाण नीलसुन्दरकी सर्वत्र व्यापकताका प्रतिपादन हो रहा था। उद्धव महाराजको, सखाजीको जब यह भान होने लगा कि ज्ञानकी इस गरिमाका प्रभाव तो निश्चय अब इनपर होकर रहेगा – तब अनमोल निधिके रूपमें नीलसुन्दरकी इस उक्तिकी, उनके इस संदेशकी व्याख्या आरम्भ हुई—

"सुनती हो, गोपसुन्दरियो ! ध्यानसे सुनना, भला ! मैं तुम सबके नयनोंका तारा अवश्य हूँ, किंतु फिर भी तुमसे दूर क्यों चला आया और दूर आकर यहाँ बस गया हूँ, इसका कारण जानती हो ? देखो, मेरा बड़ा ही पुनीत उद्देश्य है—तुम सबका मन, बस, एकमात्र मुझमें ही, केवल-केवल मुझमें ही निरन्तर रमा रहे—इस अभिसंधिसे ही मैं दूर हट आया हूँ, भला !" प्रवचनका पूर्ण विराम भी न आ सका कि श्रोता-मण्डलीके नयन-सरोरुह निमीलित हो गये। एक साथ ही सबने अपनी आँखें

बंद कर लीं। और क्षण बीतते-न-बीतते उनमें सहसा एक दिव्यातिदिव्य अप्रतिम आवेशका संचार हो उठा।

उस ओर वृषभानुनन्दिनी राधा यद्यपि बैठी तो थीं इन सहचरियोंसे आवृत होकर, किंतु बहिर्जगत्‌का भान उन्हें कथनमात्रको ही था। कोई एक दूत आया है--इतना-सा भान तो अन्तर्यामीकी प्रेरणासे ही उन्हें अवश्य हो चुका था; किंतु उनके नयन-सरोज उन्मीलित न हुए, काया स्पन्दिततक नहीं हुई। साथ ही अबतक उद्धव और गोपसुन्दरियोंके बीच क्या चर्चा हुई, क्या ज्ञानोपदेश हुआ---इसे वृषभानुनन्दिनी कितना सुन पायीं, अथवा सर्वथा सुन ही न सकीं, यह कौन कहे ?

इतना अतुलित सम्मान उद्धवको तो उनकी सहचरियोंके द्वारा ही मिला था--हाँ, सब कुछ हुआ था वृषभानुदुलारीकी संनिधिमें ही। सुन्दरी-सरोवरके दक्षिण तटपर किशोरी उस समय आसीन थीं। उत्तरकी ओर मुख था उनका एवं उनकी समस्त सहचरियोंका। नीलसुन्दरके जानेके अनन्तर ये सब-की-सब निरन्तर यहीं, इस तीरपर ही विराजित थीं। और इसीलिये उद्धवको भी उनके दर्शन यहीं हुए।

जो हो, दो-एक पल बीतते-न-बीतते महाभाव-समुद्र पहले तो मानकी अप्रतिम ऊर्मियोंसे सज्जित हो गया और फिर दो-चार पल और बीते ही थे कि रागकी उत्ताल तरंगें उन मानकी लहरोंमें मिश्रित हो गयीं—वाणी क्या, लेखनी क्या चित्रण कर सकेगी उसका ! हाँ ! किशोरीके अतिरिक्त सबने अपने मुँह फेर लिये उद्धवकी ओरसे और मानो सब-की-सब विस्मृत कर गयीं इस बातको भी कि ये उद्धव, मेरी चर्चाके श्रोता, एक पुरुष हैं तथा अनर्गल रूपसे अपने-अपने जीवनकी कुछ अनुभूतियाँ राधा-किशोरीसे बतलाने लग गयीं। नीलसुन्दरके साथ निभृत निकुंजमें उनकी कुछ बातें जो हुई थीं, उनका कियद् अंश सुस्पष्ट कहने लग गयीं अपनी प्राणरूपिणी बहिन राधासे।

यन्त्रित-सी हुई जब एक कुछ कहकर उन्मत्तकी भाँति या तो हँसने लगती या करुण-क्रन्दनके प्रवाहमें बह जाती और उसका हास्य अथवा क्रन्दन थम जाता, तभी दूसरीके मुखसे वह रसमयी चर्चा वेदनाकी आगमें सनी-सी, झुलसी-सी होकर निस्सृत होती। राधाकिशोरीको सम्बोधनकर वह कहने लग जाती। सच-सच ऐसा लग रहा था, जैसे कोई भीतरसे उनके द्वारा कह रहा हो, कहलवा रहा हो--

"अरी सुनती है, अब नीलसुन्दर भूल गये हैं--ताम्बूलकी वह घटना नील-सुन्दरको विस्मृत हो गयी है, बहिन राधे ! मैंने तेरे अधरोंपर पानकी वह बीड़ी रखी

थी । तू उसका आधा अपने मुखमें दाँतोंके नीचे दबाकर शेषको मेरे अधरोंपर रख बैठी । मैं निर्निमेषँ नयनोंसे तेरी शोभा निहार रही थी । ताम्बूलका अंश ज्यों-का-त्यों प्रस्तर-प्रतिमाके मुखकी भाँति मेरे अधरोंपर रखा भर था । मैं उसे अपने मुखमें ले भी न जा सकी थी और अचानक न जाने कहाँसे, कुंजके पीछेके द्वारसे चुपचाप नील-सुन्दर आये और झटककर, छीनकर मेरे पानके उस अंशको अपने मुखमें रख लिया । उस समय वे जो बोले थे, तुझे स्मरण है, बहिन ! अरी ! अक्षरशः बतला रही हूँ—हँसते हुए कह बैठे थे—'ललिते, इस हिस्सेके बदले मैं तेरा निरवधि नित्य क्रीतदास हो गया, भला !' पर बहिन ! दुर्दैव देखो । हम सबका दिन कितना फिर गया, बहिन। आज खरीदा हुआ दास अपनी स्वामिनीके प्रति इस प्रकार ज्ञान-संदेश भेजनेका साहस कर बैठा है—तत्त्वबोधका संदेश-प्रेषक बन बैठा है"—उन्मत्तकी भाँति ललिता हँस रही थी, न जाने कितनी देर हँसती रही ।

"अरी बहिन, अब नीलसुन्दर क्यों याद करेंगे उस तिथिकी घटनाको । किंतु मैं कैसे भूल जाऊँगी बहिन ! सुन, भाद्रपद कृष्ण प्रतिपदा थी—संध्याकालीन अरुणिमा प्रतीची-क्षितिजसे गवाक्ष-रन्ध्रोंको स्पर्श कर रही थी और मैं व्यस्त थी तेरी कुन्तल-रचनामें । न जाने कहाँ वे, वहीं किस स्थानमें छिपकर विराजित थे । पत्रोंके जालमें ऐसे निलीन थे कि कहीं कोई आभासतक हम दोनों न पा सकी थीं—सहसा वे बोल उठे थे—'जिसकी ये अलकें हैं और जो रचना कर रही है, वे मेरे उरःस्थलमें अनन्त-कालतक निवास करें, और मैं अनन्तकालतक निर्बाध रूपसे उनके चरण-सरोरुहोंकी सेवा करूँ ।' कहकर वे तुरंत भाग गये । सुस्पष्ट देख तो हम दोनोंने लिया था । हाय रे ! कहाँ तो इस प्रकार प्राणोत्कण्ठाके प्रवाहमें प्राणनाथ नीलसुन्दर बह रहे थे—एक दिन वह था,—और कहाँ इस प्रकार स्वरूपस्थितिकी अहंताका यह प्रदर्शन है।…"

फूट-फूटकर विशाखा उच्च स्वरसे रो रही थी—

"ओह ! आज समझ पायी, बहिन ! साँवर कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं। दिनका शुभ्र प्रकाश सर्वत्र फैला था—मध्याह्न भी नहीं हुआ था । तूने मुझे लजवन्ती-कुञ्जमें भेजा था उनके समीप…उस, उस, उस, उस, उस…अभिसंधिसे और जब मैं लौटने लगी थी, वे बोले थे – ज्यों-की-त्यों उनकी उक्ति यही थी—'प्राणेश्वरी राधा-का, तेरा, तुम दोनोंका ही मैं कालके प्रवाहमें अनन्तकालतक ही ऋण-परिशोध कर सकूँ—यह तो असम्भव-असम्भव है । हाँ ! जबतक मेरा अस्तित्व है, तबतक तुम दोनों जैसे कहोगी, ठीक-ठीक वैसे ही आचरणकर अपने मनको मैं संतोष देता रहूँगा । आगे

क्षणके लिये एक सुखका अनुभव करूँगा कि आज आधे क्षणके लिये तुम दोनोंकी सेवा मैं कर सका ; तुम दोनोंके अनुग्रहसे ही हो सकी ।" 'जय हो वञ्चकशिरोमणि नन्द-नन्दनकी !' उन्मत्त अट्टहास करती हुई चित्रा प्रतीचीकी ओर दौड़ी चली जा रही थी । और दस पदपर ही मूर्छित होकर गिर गयी ।

"तिमिरसे आच्छन्न रजनी थी। नीलसुन्दरके पीत दुकूलसे अचानक मेरे अञ्चलका छोर जा सटा— मैं तेरी उस···उस सेवाके लिये आयी थी, उस कुञ्ज-स्थलमें तेरी प्रतीक्षा कर रही थी । वे मेरे चरणोंमें महा-महादीन होकर पड़े थे । मेरी मनुहार कर रहे थे, अञ्जलिसे बारंबार मेरे चरणोंको छू-छूकर । और फिर आगे-की उक्तियाँ, हम दोनोंकी संधिकी नियमावली ? क्यों कहूँ ! क्यों कहूँ !! क्यों कहूँ !!!" रोती हुई, विकृत स्वरमें उच्चारण करती हुई इन्दुलेखा अपने सिरको बारंबार हाथ-से पीट रही थी ।

"बहिन राधे ! वाग्युद्ध था उस दिन मेरा और नीलसुन्दरका; वे कहते— भ्रमर है, मैं कहती, नहीं, भ्रमरी है । और तू ही तो निर्णयकर्त्री बनी थी बहिन ! वे हार गये थे निर्णयमें, मैं जीत गयी थी । और बहिन राधे, उनके हस्तकमलोंको कुन्तलकी लटोंसे बाँधनेका दृश्य कितना मनोरम था, बहिन ! क्या उस समय हम दोनोंने आशा की थी—आशंका की थी अपने इस दुर्दिनकी ? क्या सोच सकी थी, बहिन, तू, अरी मैं—यह बात स्वप्नमें भी री ! कि साँवर इतने झूठे हैं ?"···चम्पक-लतिकाकी आँखें पुनः बंद हो गयी थीं और अनर्गल अश्रुप्रवाहसे वह भिगो रही थी अपने कपोलोंको ।

"हेमन्तकी निशा थी, बहिन ! निशा बीत चुकी थी, हाँ, हाँ, हाँ हेमन्तकी प्रथम निशा थी; षष्ठीकी निशा थी री, बहिन ! कृष्णा षष्ठी थी ! कृष्णा षष्ठी थी!! कृष्णा षष्ठी थी !!! मुझे नींद आ गयी थी बहिन ! और नींदमें सपना देख रही थी, देवीकी अर्चना कर रही थी—और वे ठीक उसी क्षण, मैं तो बहिन ! देवीको उपचार समर्पित कर रही थी कि वे चपल होकर उच्च स्वरमें बोल उठे थे—'मैं तो तुम सबके—एक-एकके प्रति इस बन्धनमें बँधा हूँ ही, 'निरवधि केवल-केवल तुम सबकी ही सेवा करूँ' निरन्तर इस बन्धनके आनन्दमें डूबता-उतराता रहता हूँ । मेरा यह बन्धन कभी न टूटे !' मैं तत्क्षण जाग उठी थी, बहिन ! और जगकर देखती हूँ, बहिन ! कि उनकी उक्ति सचमुच सर्वथा सर्वांशमें सत्य है । कैसे बताऊँ–बहिन ! सम्भव है मैं जगी न होऊँ, उस समय स्वप्नमें ही सुन रही थी । स्मृति साथ नहीं दे रही है बहिन, स्वप्न था या जाग्रत, सम्भवतः ये रसस्यन्दी स्वर स्वप्नमें ही मैं सुन

पायी थी; पर जगनेपर भान हुआ था उनके व्यवहारोंसे कि उनकी यह उक्ति क्रियात्मक रूपसे सत्य ही है, सत्य-ही है, सत्य ही है। पर अनुभव कर रही हूँ बहिन, कि सपना सपना ही होता है। सपनेकी घटना नित्य सत्य नहीं होती। इसीसे तो बहिन, वे हम सबके प्रति किये हुए व्रत-बन्धको तोड़कर चले गये। तो स्वप्न ही था ! तो स्वप्न ही था !! स्वप्न ही था !!!—सच कह रही हूँ न ?"·· रंग सबसे रो-रोकर पूछती जा रही थी—हँसती जा रही थी। और फिर मूर्छित होकर गिर पड़ी।

"किशोरी बहिन ! ऋतुराज और शिशिरकी संधि हुई थी, बस, दो दिन पूर्व। मैं अटारीपर खड़ी थी, बहिन—भानुपुरकी अटारी थी, याद है न तुझे, और दिनकर प्रतीची-क्षितिजको छू रहे थे, अब तो तू ही बता सकेगी कि मुझे भ्रम हुआ था अथवा सत्य-सत्य नीलसुन्दर भानुपुरीके उस उद्यानमें पधारे थे और उनका पीत दुकूल बन्धक रख दिया गया था—अब उस बन्धकका क्या अर्थ है—निरर्थक है। अच्छा, जाकर देखूँ, कदाचित् पीत दुकूल अब भी वहाँ पड़ा हो।" हाः हाः हाः हाः हाः हाः हाः— अट्टहास करती हुई तुङ्गविद्या टकरा-सी गयी किशोरीसे। और न जाने कितनी देरके अनन्तर उसके अट्टहासका विराम हुआ।

"तो···तो···तो···ग्रीष्मका मध्याह्न तप रहा था और मेरा उरःस्थल भी जल रहा था। उनकी तेरे प्रति, बहिन राधे ! जो सुस्पष्ट वञ्चनाएँ हुई थीं, उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव कर लपटें निकल रही थीं मेरे उरःस्थलसे ! व्यथामें भरी-सी तू भी मूर्छित-सी हो गयी थी—और वे आँखोंमें आँसू भरकर चन्दन-विलेपके माध्यमसे तेरे तापका अपहरण कर रहे थे। मेरे हाथमें तालवृन्त था ! उसपर उन्होंने कुछ अक्षर अङ्कित किये थे। अक्षरोंके अन्तरालमें कितनी अडिग प्रतिज्ञा अङ्कित थी और मुझे प्रसन्न करनेके लिए कितने विशाल औदार्यका परिचय दिया था उन्होंने ! · सब-की-सब वे उक्तियाँ, वे अक्षर मिथ्या, मिथ्या, मिथ्या थे; हाँ-हाँ मिथ्या थे। अच्छा—समझ लूँगी, आने दो ! कितनी देर है संध्यामें। आते ही होंगे—नहीं, नहीं, नहीं आयेंगे। खूब रोऊँ, खूब रोऊँ, खूब रोऊँ, तिरस्कार जो मैंने किया है उनका।..." आकाश फट-सा रहा था सुदेवीके करुण-क्रन्दनसे और उन्मत्तकी भाँति वह अपनी अलकोंको नचा रही थी।

"उस दिन, बहिन ! मैं तेरे अङ्कसे लगकर गम्भीर निद्रामें निमग्न थी। क्या, कैसे हुआ था, इसे तू तनिक स्मरण तो कर ले ! तबसे, तबसे ही तो मैं देख रही हूँ कि मेरे हृत्सरोजपर तू निरन्तर विराजित है और फिर तेरे हृत्सरोरुहके दलोंपर वे

नित्य-निरन्तर विराजित हैं। मुझमें तू बसी है, तुझमें वे बसे हैं। फिर भी मैं निरन्तर क्यों रोती हूँ, बहिन ! अच्छा, तू बता— यह मेरी भ्रान्ति है, बहिन ! कि सत्यानुभूति है ? मैं तो समझ ही नहीं पा रही हूँ। देख, जब मेरी आँखें तेरे अनर्गल अश्रुप्रवाहकी ओर जाती है, तब अनुभव करती हूँ कि हम सबके प्राणवल्लभ नन्दनन्दन अब मधुपुरमें निवास कर रहे हैं…।" कहती हुई मञ्जुश्यामा फू-फूकर रोने लगती है और ढलक पड़ती है राधाकिशोरीके दक्षिण स्कन्धपर।

"बहिन लाडिली ! मेरा स्वर अत्यन्त नीरस था और अब भी यह नीरस ही है; किंतु तेरे मधुमय स्वरकी इसपर प्रतिच्छाया पड़ती थी और यही कारण था कि नीलसुन्दर सदाके लिए मेरे हाथ बिके हुए थे; किंतु वे क्यों चले गये, बहिन ! इसे वे ही जानें…" मधुमती अत्यन्त करुण हाहाकारके समुद्रमें डूब गयी।

"एक दिन था, जबकि मेरे तनका गोरापन उन्हें इतना आकर्षित करता था कि मुझे देखते ही 'मैं कौन हूँ' इसकी उन्हें विस्मृति हो जाती। बहिन री ! मेरे तनका रंग तो अब भी वैसा ही है और मेरे मनका रंग भी वही है; किंतु बदले हैं वे मेरे नीलसुन्दर ही। कोई अचरजकी बात नहीं, बहिन ! अपना ही प्रतिबिम्ब भी तो अँधेरेमें साथीपनका परित्याग कर देता है।" —निर्निमेष नयनोंसे देखती हुई विमला अपने नयनोंकी धारासे वृषभानुनन्दिनीके जानुदेशको भिगो रही थी।

"काले मेघोंकी ओट लेकर कलंकी मयङ्क आया था यहीं, इसी व्रजमें एक रातको। मैं शङ्कित हो गयी थी उन प्रश्नोंके समाधानको लेकर और नीलसुन्दर भानुपुरीकी उस वाटिकामें कहीं निलीन थे। मैं तेरी प्रतीक्षा कर रही थी। यदि मैं नीलसुन्दरका साथ न देती उस रजनीकी क्रीड़ामें तो क्या कर लेते वे मेरा ? पर बहिन री ! तेरे प्रति मेरे अन्तःप्राणोंका मोह मिट जाना असम्भव था; इसलिये, इसलिये इसलिये, इसलिये, इसलिये ही मैंने उनकी अभिसंधिकी पूर्णता सम्पन्न की थी— जिसे वे, नहीं री, तू—अप्रतिम लाभके रूपमें, अपनी अनन्तकालीन प्रसन्नताके रूपमें चित्रित कर बैठी थी, जिससे अधिक जीवनका कोई लाभ ही नहीं है, यह रूप दिया था तुमने इस अभिसंधिको ! देख रही है न उस लाभका अब नग्न रूप ? कृष्णवर्णके पुरुष ऐसे ही होते हैं…" श्यामला करोंसे वक्षःस्थलपर ऐसे आघात कर रही थी, मानो विदीर्ण कर देना चाहती हो उसे वह।

"बहिन राधे ! बड़े ध्यानसे सुनना, भला ! नील वारिधरने ही वल्लरीको सींचा था। किंतु जब उसमें पुष्प लगे—सौरभसे भर उठी वह, तब नील पयोधर चला

गया । मैं उस समय यह कह बैठी थी—'देखो, नील मेघ ! ठगना मत'—और प्रत्युत्तरमें श्याम पयोदने कहा था—'अरी ! क्या प्राणोंका सम्बन्ध भी टूटता है ?' कैसी विडम्बना है सत्यकी, बहिन ! ..."आकाशकी ओर झरती आँखोंसे देख रही थी पालिका और दो पलोंके अनन्तर लुढ़क गयी सरोवर-तटकी उस तृण-राशिपर ।

"तो वह प्रथम मिलन था, बहिन राधे ! हाँ, री, प्रथम ही तो था । जैसे-तैसे नीली किरणोंका स्वागत मैं कर पायी । किंतु बहिन ! मेरी आँखें झप-झप जाती थीं । यह शील उनका था कि मेरा, बहिन ! जो मैं विश्वास कर बैठी, उस भाद्रशुक्ला त्रयोदशीकी षष्ठी-पूजनकी पद्धतिमें !"—कहती हुई भद्राकी आँखें बंद हो गयीं और बंद आँखोंसे उठकर वह उदीचीकी ओर चली जा रही थी, न जाने कहाँ ?

"चैत्र-पूर्णिमाकी निशा थी बहिन ! उस क्षणसे मेरे चरणोंमें एक कम्पन निरन्तर वर्तमान है । वे स्थिर नहीं रह सकते । तबसे युग-युगान्त बीत गये, एक उल्लासकी किरण मेरे मनमें थी कि मैं तुझे, क्षणभर ही सही, सुखदान कर सकी । पर आज नीलसुन्दरकी यह चेष्टा ? समझ गयी, बहिन ! मेरा भ्रममात्र था···।"

...उन्मत होकर धन्या नाच रही थी । किंतु नूपुर तो अब थे नहीं, जो उसे उद्दीपन दान करते । आँख खोलकर फटी दृष्टिसे देख रही थी अपने गुल्फोंकी ओर वह ।

"एक दिन था, बहिन लाडिली । मेरी प्रत्येक साँस नीलसुन्दरके उर:स्थलमें चित्रका निर्माण कर देती थी । तू समझ गयी न ? पर विधिकी विडम्बना देख—व्रजका नीलचन्द्र भी शालके दिनकरसे प्रतिभासित हो रहा है; तो तारक-राशियोंमें आभा कहाँ आयेगी, बहिन ! छोड़, इस प्रपञ्चको...।" सुबुक-सुबुककर रो रही थी तारक-मञ्जरी ।

"भाद्र सित प्रतिपदाकी यह उक्ति क्या अर्थ रखती है, बहिन ! 'अप्रतिम लावण्य तुझमें ही है री !" विश्वमें किसीका विश्वास नहीं बहिन । जब नीलसुन्दर ही कपटी हैं तो औरकी क्या बात ?"···रूपकी आँखें झर रही थीं ।

"अभी-अभी आये बसन्तकी रजनी थी । कृष्ण नवमीकी निशा थी—और केवल मैं पहुँच पायी थी उन्हें लेकर—नीलसुन्दरको लेकर तेरे पास । और हास्य-भरे स्वरमें उनका वह विनोद था—'निर्णय बतलाओ'—इस निकुंजस्थलमें किसका मुख-

सौरभ परिपूरित है ? ''तो''तो उस विनोदका पर्यवसान यहाँ हुआ राधा बहिन''।''
—कहती-कहती, उक्ति पूरे होते-न-होते लवङ्ग मूर्छित होकर गिर पड़ी।

''बहिन राधे ! उस दिन विवाद छिड़ा था—'पारिजात-सुमन सुरभित हैं या मेरी प्राणेश्वरी राधाकी कुञ्चित अलकें'—निर्णय जानना चाहते थे, नीलसुन्दर। देख, बहिन ! मैं तेरी ममतासे दबी थी और उनके भुलावेमें आ गयी। हाय रे ! उस दिन क्या मुझे पता था कि नीलसुन्दरकी वह अधीनता भ्रमजाल मात्र थी।'' चन्दनकी आँखोंमें, उरःस्थलमें आग-सी लग रही थी और वह ताली पीट-पीटकर हूँ-हूँ-हूँ-का उच्चारण कर रही थी।

''अपना सर्वस्वदान कर मैंने उनकी रुचि रख दी थी, राधा बहिन ! आषाढ़ कृष्ण द्वितीयाका वह दिन मैं कैसे भूलूँगी, बहिन ! आँखोंमें आँसू भरकर नीलसुन्दरने कहा था—'ऐसे ही निरवधि नेहका निर्वाह मैं भी करूँगा री तेरे प्रति !' परंतु जिसने यह आशा दी थी, उसने ही इस आशाको सर्वथा चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।'' कर्पूरकी आँखें अनर्गल अश्रुप्रवाहका सृजन कर निमीलित तो हुईं, पर ऐसा लग रहा था कि प्रलयके बिन्दुको छू रही हैं।

''आम्र-तरुओंमें मञ्जरियाँ लग चुकी थीं। वे अर्चनकी विधिका निर्णय मुझसे लेना चाहते थे। मैं मौन थी, बहिन राधे ! किंतु वह मेरी मूक मुद्रा ही मेरी अप्रतिम, अनमोल निधि बन गयी थी—धरोहर थी मेरी—उनकी ही वाणीमें री ! किंतु आज समझ रही हूँ कि यह सब उनका चकमा मात्र था।'' एक बार पुनः रतिमञ्जरीके अट्टहाससे आकाश मानो फटने-सा लग गया; किंतु पुनः वह भी ऐसी मौन हुई, मानो दशमी दशाको ही स्पर्श कर रही हो।

''विजयादशमी थी और उनकी भी आज अद्भुत जय हुई थी—उनकी, राधा बहिन ! जो सदा हारे-ही-हारे थे। और उसके अनन्तर अचानक मेरी किङ्किणीकी झंकृति और उसके पश्चात् वह हम सबकी रसमय पराजय थी उनकी—तू ही बतला सकेगी, बहिन राधिके ! यदि पराजय थी उनकी तो विजयका पुरस्कार हमारे भाग्यमें यही था···?'' गुण फटी आँखोंसे देख रही थी प्रतीचीकी ओर, और उस ओर ही उठकर चल पड़ी; किंतु मूर्छाने उसे अङ्कमें ले लिया।

''अनामिकामें अञ्जन भरकर वे तेरे नयन-सरोजोंको अलंकृत करने चले थे, किंतु नील कर-पल्लवोंमें कम्पनका वेग इतना अधिक था कि वे—नीलसुन्दर री !

अपनेको सँभाल नहीं पाते थे। बाँयें करको तू सँभाल रही थी और मैं उनके दक्षिण हस्तको थामे हुए थी—उसका बदला—प्रतिदान, यह मिला है हम सबको। बलिहारी है दुर्दिनकी !" केलि कहती-कहती लुढ़क पड़ी किशोरीके चरण-प्रान्तमें।

"शत-सहस्र निहोरोंसे दबकर मैं साहस बटोर पायी थी, बहिन ! दस पल नाचनेके लिये और उनका नीरज-मुख खिल उठा था मेरा वह नृत्य देखकर। राका-चन्द्रको साक्षी देकर उन्होंने जो मुझे दान दिया था, वह दान इतना ही मोल रखता है—आज मुझे यह भान हुआ। रोना जीवनभर ही है, बहिन !" विलासकी वेदना अन्तर्हृदयमें सीमित न रह सकी; उन्मत्तकी भाँति वह कासारके तृणोंपर अपना सिर पटक रही थी।

"बहिन राधे ! तू भूल गयी क्या री ! नीलसुन्दरकी उस दिनकी उक्तिको—मेरी प्रशंसा करते हुए वे अघाते न थे। यहाँतक बोल बैठे—'अरी ! कविताका सौंदर्य क्या होता है, आज मैं हृदयंगम कर सका हूँ। तू मेरे कर्णपुटोंमें निरवधि ऐसे ही रसके कलश उड़ेलना, भला !' मैंने तेरी आँखोंके सौन्दर्यका चित्रण किया था। इसका ही पुरस्कार उन्होंने दिया था। मैं फूली नहीं समाती थी। पर मेरे भालके अग्रिम अक्षर इतने मलिन हैं, यह भी प्रत्यक्ष हो गया बहिन !" वाक्य पूरा होते-न-होते लासिकाके मुखसे फुत्-फुत् करके फेन निस्सृत होने लगा और फिर जड़िमामें निमग्न हो गयी वह।

"आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी थी। अपराह्न था, बहिन ! आठों कुञ्जोंमें घूम-घूमकर मैं अत्यन्त थक गयी थी। प्रस्वेदसे लथपथ हो गयी थी। समीरमें कोई गति न थी। उस समय हठात् नीलसुन्दर पधारे थे। और मुझसे उनकी कुछ बातें हुई थी। हाय रे, नीलसुन्दर ! सर्वथा भूल गये उन बातोंको···!" प्रेम-मञ्जरीका सम्पूर्ण कलेवर घर्माक्त हो गया। सम्पूर्ण अवयव थर-थर काँपने लग गये। वेदनाके भारसे एक अद्‌भुत वैवर्ण्यका संचार हो गया उसके सम्पूर्ण अङ्गोंमें। आँखें बंद हो गयीं उसकी।

"देख, मेरा हँसना उन्हें अत्यन्त प्रिय था, बहिन ! और तो क्या, बारंबार मेरे चरणोंपर हाथ रखकर वे मेरी मनुहार किया करते थे जरा-सा हँस देनेको। न जाने कितनी भङ्गिमाएँ नीलसुन्दर रचते थे, और मैं आखिर हँस ही पड़ती। किंतु मुझे पता न था कि इस हास्यके अन्तरालमें मेरे क्रन्दनकी भूमिका निर्मित हो रही थी।" उन्मत्तकी भाँति कुन्द खिलखिलाकर हँस रही थी और मुखरित हो रहा था सरोवर-तीरका कण-कण।

"शिशिरका अन्त होने जा रहा था। फाल्गुन शुक्ला षष्ठीकी तिथि थी। अभी मध्याह्न न हुआ था। पीयूष-सरिताका—नहीं-नहीं री ! पीयूष–सागरका उद्वेलन क्षणभरके लिये प्रत्यक्ष हो गया था मेरे सामने। किंतु उस दिन यह भान न हुआ कि उस रस-समुद्रमें भी बड़वानलका निवास रहता है···।" मञ्जुलीला हाथ नचा-नचाकर सरोवरके जलमें सम्भवतः कूदनेके उद्देश्यसे चली जा रही थी; किंतु जलका स्पर्श होते-न-होते स्थलपर ही मूर्छित होकर गिर पड़ी।

"कुछ स्मरण है, राधा बहिन ! तेरे नामसे अभिहित उस सरोवरके वक्षः-स्थलपर हंस-से तैरते हुए उस कुञ्जस्थलका। मेरे साथ श्यामा भी थी और नील-सुन्दर मुझसे मिलने आये थे। कहाँ एक दिन उनकी वह अतुल रसिकता और आज यह मेरे कण-कणको जलाती हुई विरसता–दोनों ही चित्र मेरे सामने हैं, बहिन राधे ! तू बता, मैं हँसूँ कि रोऊँ ?–हँसूं कि रोऊँ—हँसूं कि रोऊँ—" प्रत्येक गोपसुन्दरीके सामने ताली पीट-पीटकर मदनसुन्दरी पूछती जा रही थी और मानो कदली-स्तम्भ हो, इस भाँति धरापर गिरकर चेतनाशून्य हो गयी।

"यह स्वर्णिम मृदुला वल्लरी नील तरुसे लिपटी है। निसर्गके इस स्वभावका जब द्रुम भी परित्याग नहीं करता, तब नीलसुन्दर तो नित्य अविचल हैं नेह निभाने-में। 'क्यों जी ?' मैं पूछ बैठी थी। और नीलसुन्दरने कहा था—'एवमस्तु' ! किंतु यह 'एवमस्तु'—श्रावण शुक्ला द्वादशीकी यह प्रतिश्रुति आत्यन्तिक मिथ्या थी। क्यों बहिन राधे ! मैं सत्य कह रही हूँ तो···?" 'उफ' की एक वेदनाभरी लहरी-सी मञ्जरी के मुखसे निस्सृत हुई और मञ्जरी मानों सचमुच ही समा गयी उस अन्तिम बिन्दुके कक्षमें।

"अशोककी शीतल छायामें निर्मित उस निकुञ्जकी घटना मैं भूल नहीं पाती, बहिन राधे ! तू अवस्थित थी और तेरे पार्श्वमें साँवरी बहिन विराजित थी और तुम दोनोंके बीचमें वे सुशोभित थे। फिर, फिर···फिर·· उस संदर्भमें नीलसुन्दरकी यह उक्ति हुई थी—'तुम सब तो नित्य सुहागिन हो।' किंतु हाय रे ! माँगका यह सिन्दूर आज हुतभुक्-सा जल रहा है । मस्तक फूट गया मेरा—मेरा—सिंदूरकी लपटोंमें दो टूक हो गया।" कहती हुई हँस रही थी अशोक।

"किशोरी बहिन ! सरोवरकी वह वायव्य कोणवाली कुञ्ज उस दिन कितनी सुषमाका विस्तार कर रही थी। तू बैठी थी और मैं, आये थे वे नीलदेवता। मेरी

मनुहार कर कह बैठे थे—'तेरे नामके अनुरूप ही सुधाकी निर्झर है तू।' मैं भोली थी, बहिन! उनकी इस उक्तिको सत्य मान बैठी, मान बैठती थी; और इसीलिये गर्वमें भरकर कितनी बार मधुमयी खरी-खोटी सुना देती। किंतु···किंतु···किंतु··· हाथीके दाँत खानेके और दिखानेके दो होते ही हैं, बहिन!"··· स्वरभङ्गका ऐसा अद्‌भुत आवेश सहसा सुधामें हुआ, जिससे उसका आन्तरिक रोष व्यक्त न हो पाता था। वह दो···दो···दि···दि···दि···खा···खा···खा···ने···ने···ने···ने···के ··के ···के ··हा··हा···थी···थी···थी ··कहती हुई प्राचीकी ओर भागी जा रही थी।

"बहिन लाडिली! मनोहर अभिनय तू भी नहीं भूल सकेगी—उस दिनवाले अभिनयकी बात, बहिन, जब गँठबन्धनका स्वाँग पूरा करने मैं चली थी, और कह बैठी थी—कि 'बिना नेग लिये गँठबन्धन मैं करूँगी नहीं।' आँखोंमें झर-झर अश्रुका प्रवाह चल पड़ा, और उस प्रवाहमें बहते हुए नीलसुन्दर बोले थे—'अरी! प्रियतमा तो नित्य तेरी हैं ही, अब आजसे मैं भी तेरा ही नित्य हूँ।' आजतक ऐसा ही लगता था मुझे कि सत्य-सत्य ही उन्होंने उस दिन कहा था। पर हाय रे! खेल खेल ही होता है। खेलकी बात सदा सत्य नहीं रहती ··।" मोदिनीकी आँखें पावसकी धारा बिखेर रही थीं।

"तो आँखमिचौनीकी क्रीड़ा थी। और बहिन राधे! तू निर्णय दे बैठी कि इस क्रीड़ाके नियमोंमें मैं पक्षपात कैसे कर सकूँगी? प्राणनाथ नीलसुन्दर तो अस्पृश्य हो गये। सुस्पष्ट मैं देख चुकी हूँ, माधवीने वल्लरीका स्पर्श कर लिया पहले, पीछे छू सके हैं नीलसुन्दर। और फिर, बहिन राधे! दण्डविधानके अन्तर्गत दो पलका वियोग उन्हें इतना अखरा था कि वे विह्वल होकर बोल उठे थे मुझसे— 'अरी! तू मेरी रक्षा कर ले और मुझे अनन्तकालतकके लिये खरीद ले।' क्या वह स्वप्नका दृश्य था···?"···कहती हुई माधवी अपने धूमिल अञ्चलको फाड़ रही थी।

"सम्पूर्ण कुञ्जस्थल मयङ्क-किरणोंसे उद्‌भासित था। तू बैठी थी, राधा बहिन! और वे रागपूरित दृष्टिसे निर्निमेष होकर मुझे ही देख रहे थे। सहसा बोल उठे— 'अरी! शशि-किरणोंसे भी तेरा स्मित अधिक उज्ज्वल है।' उस क्षण उनकी आँखें झर रही थीं। आज सोचती हूँ, बहिन! उनका वह वाग्विलास और उनके नीलदृगोंका वह निर्झर—इनका दर्शन मेरा भ्रममात्र था। संगति नहीं लग सकती, बहिन! ऐसे सत्यके विलोपकी।"...कह-कहकर खिलखिलाकर हँस रही थी शशिरेखा।

"बहिन किशोरी ! अवगाहनकी क्रीड़ा होनेके अनन्तर तू सरोवरसे बाहर आकर तटपर खड़ी थी और तेरे कुन्तलसे जलकी बूँदें टप-टप झर रही थीं। मैं हँसकर कह बैठी—'सच है—जिसमें कृष्णता होती है, कालापन होता है, उससे रस चूता ही है।' और तत्क्षण इसके उत्तरमें वे बोल उठे थे—'और फिर वह रीता भी हो जाता है।' उनकी वह उक्ति सच थी, आज मैं समझ पायी।..."आज हारहीराके कण्ठदेशमें कोई भी माला न थी, कोई हार न था, फिर भी उन्मादिनी-सी होकर अपनी ग्रीवाके हारको मानो वह तोड़ रही हो, इस मुद्रामें दौड़ चली सरोवरकी ओर। किंतु लड़खड़ाकर चार-पाँच पद-विन्यासके अनन्तर ही गिर पड़ी वह।

"उस घटनाके अनन्तर शारदीय राका-रजनीके तृतीय प्रहरकी बेला थी ! मैं नीलसुन्दरसे कह रही थी—'सुनते हो'—हाँ···हाँ ··हाँ···उस इन्द्रनीलमणिको मैं इस जम्बू सरितावाले पुरटकी अँगूठीमें ही जड़ूँगी, भला ! मैं यही मूल्य लूँगी कुन्तल सँवारनेकी सेवाका।' और गद्गद कण्ठसे वे बोले थे—'ऐसा ही हो, ऐसा ही हो ! ऐसा ही हो !' तो उस वाक्यका यही अर्थ था क्या ? हाय, नीलसुन्दर ! मिथ्यात्वकी भी एक सीमा होती है।..."टँग गयीं आँखें सुकेशीकी यह उद्गार पूर्ण होते-न-होते।

"बहिन राधे ! उस परिणयका, प्रच्छन्न रूपसे पाणि-ग्रहणका उल्लासमय आयोजन सम्पन्न हुआ था, और मेरी अनादि साध उस समय प्रबुद्ध हो उठी थी कि बस, इस आयोजनका पर्यवसान हो मेरेद्वारा तेरे और उनके नित्य सुख-वर्धनमें ही ! उन्होंने व्रजके सूर्य-चन्द्रकी साक्षितामें ऐसा ही होनेका वचनदान भी किया था, किंतु आशा सदा सारगर्भित ही हो, यह आवश्यक नहीं !...वञ्चनाकी भी एक सीमा होती है !" कुन्दवल्लीकी आँखोंमें नीलसुन्दरके प्रति आत्यन्तिक वेदना-भरे रोषकी एक रेखा कौंधी और दूसरे ही क्षण वह चेतनाशून्य हो गयी।

"मेरा एक प्रश्न था नीलसुन्दरसे—'क्यों नीलम ! प्रीतिकी गति कभी सीधी नहीं होती, क्या बात है ?' और उत्तरके रूपमें उन्होंने कहा था—'रसकी वस्तु, तरल वस्तुएँ साँचेके अनुरूप ही ढलती हैं—मैं टेढ़ा हूँ, बङ्किम हूँ, और इसलिए मुझे स्पर्श कर प्रीति सदा वक्र ही चलती है।'...हा...हा...हा...हा...कितना महान् ध्रुव सत्य आज मेरे सामने प्रत्यक्ष हो गया"...सौदामनीके अट्टाहाससे गूंज उठा सरोवर-परिसर !

"...'मिलनसे पहले अमिलनकी वेदना बड़ी भीषण होती है। किंतु मिलनके अनन्तर दीपनका भेद ही नहीं रह जाता।—' नीलसुन्दरने ही यह पाठ मुझे पढ़ाया

था। और मैं भी समझ यही बैठी थी कि जीवनकी धारा ऐसी ही होती है। अब पता लगा कि मेरे नीलदेवताकी यह शिक्षा खरी वञ्चनासे ओत-प्रोत थी।...तो अविराम मुझे रोना ही है।" कहते-कहते अश्रुकी दो धाराएँ तीरकी तरह निस्सृत हुईं; आगेकी ओर एक वितस्तितक उड़ीं और हंसिनी मानो जीवनके उस पार चली गयी।

"मेरी आँखोंमें तन्द्रा-सी थी। किंतु इससे पूर्व ही नीलसुन्दरकी आँखोंमें तन्द्राका दर्शन मैंने किया था! मैं यही चाहती थी—वे विश्राम कर लें; अत्यन्त श्रमित हो गये हैं। अरी बहिन! इससे पूर्व मैंने केवल तन्द्राका बहाना किया था री! तुझसे क्यों छिपाऊँ; क्योंकि तू तो वहाँ थी ही। अब तू स्मरण कर ले, राधा बहिन! उनकी उस उक्तिका। तू ही बता, क्या वह उक्ति कृत्रिम थी?"···सुलोचनाकी आँखें अन्तर्वेदनाके भारको सह न सकीं, मुँदी, पर ऐसा लगा, मानो अब वे न खुलेंगी कभी भी।

"उनकी आँखें भर-भर आती थीं। सम्पूर्ण अङ्गोंमें पुलकका उन्मेष हो गया था, वे मृगमदसे चित्र लिखते और उन्हें मिटा देते! क्यों मिटाते, इसे वे ही जानें; किंतु हुआ यह कि एक अङ्कके चित्रणमें ही निशाका विराम हो गया। प्राची क्षितिजमें उषा झाँकने लग गयी। किंतु नीलसुन्दरके दृगोंका उल्लास क्षीण न हुआ था! बहिन किशोरी! क्या यह दम्भका उल्लास था? प्राण फटते जा रहे हैं, बहिन!···" मञ्जुलाका कण्ठ रुद्ध हो गया और मानो महाप्रलयकी छाया उसके मुखपर अङ्कित हो गयी थी।

"नील मयङ्क तेरी ग्रीवामें सुमनोंसे निर्मित पदकका आभूषण पहना रहे थे। मैं सर्वथा अपने-आपको भूल गयी, बहिन! और उस पदकमें ही तन्मय हो गयी। और जब अपनी इस कायामें लौटी थी तो मध्याह्न हो गया था। तू तो प्रत्यक्ष देख ही रही थी, बहिन! उस समय मेरे प्रति उनके प्यारदानको भी तू स्पष्ट देख ही रही थी। इसे विशुद्ध ठगीके अतिरिक्त और क्या कहूँ, बहिन!"...पूरा-पूरा भावोद्गार बाहर भी न आ सका था कि चारुशीलाके नासापुटोंके समीरमें स्पन्दन न रहा। आगे स्पन्दन होगा या नहीं, कौन जाने।

"भाद्र शुक्ला षष्ठीकी निशा थी, बहिन! नीले वनदेवने मुझसे यह कहा था—'अरी तड़ित्‌का स्वभाव तो तुझमें है ही, चपला तू है ही; और इस ओर नील वारिधरके वर्णका साम्य मेरे तनमें है—अम्भोदके उर:स्थलमें ही तो तड़ित् निवास करती है। तेरा निकेतन तो मेरे कण-कणके अन्तर्देशमें ही है। तू मुझमें ही निलीन

रहना। जब मैं तुझे व्यक्त करूँ, तभी प्रकाश-पुञ्जका वितरण करना। अपने नित्य निवासगृहको भूल गयी क्या री !' कितना मधुमय विनोद था उनका वह, बहिन ! हाय रे ! मैं तो वैसी-की-वैसी हूँ, पर नील पयोदका ही स्वभाव बदला।"...इतना ही कह सकी विद्युन्माला। उसका स्वर मन्द-मन्दतर होता जा रहा था। वह कालके उस काले बिन्दुकी ओर अग्रसर हो रही थी।

'बहिन राधे ! साँझ हो रही थी। वे तेरे पदमें महावर लगा रहे थे, तेरे पदतलके सरोरुह-चिह्नमें उनका और मेरा, दोनोंका मन सहसा निमग्न हो गया था। जब हम दोनों पुनः प्रकृतिस्थ हुए थे, तब मयङ्क क्षितिजके उस पार जा चुका था और दिनकर झाँकने लग गया था। तेरे प्रति, मेरे प्रति उनके प्यारका वह निदर्शन, वह···वह···वह · वह निदर्शन तू भी न भूलेगी, बहिन ! और मैं भी नहीं भूलूँगी। एक दिन वह भी था और यह आजका दिन भी है।"···सरोजिनीकी वाणी रुद्ध हो गयी—सुस्पष्ट था, प्राणोंके विनिमयकी बेला उसे आत्मसात् करती जा रही थी।

"अबतक कोई क्या समझ पायी थी, बहिन लाडिली ! कि ऐसा क्यों होता था। हाँ, हाँ, हाँ, हाँ, हाँ, वही बात। जब भी तुझे जँभाई आती तो नीलसुन्दरके दृग मीलित हो जाते; किंतु मैं उनके पीछे पड़ गयी थी और मेरा लाड़ रखते हुए उन्होंने अपने मनमें उस समय उत्थित होने वाले सरस भावोंका एक चित्र अङ्कित किया था। किंतु वह कोरी विडम्बना मात्र थी बहिन ! भावनाकी ! सत्य होती तो वे क्यों छोड़कर जाते हम सबको।"...कहते-कहते मदनालसाकी आँखें निमीलित हुई और अब वह मानो चिरनिद्राके अङ्कमें विश्राम कर रही थी।

"रजनीके अवसान होनेमें अब मात्र दो घड़ीकी प्रतीक्षा थी। तू, वे, मैं—तीनों बैठे थे। आलस्यके भारसे सहसा तू दब-सी गयी और पङ्कजदलोंके पर्यङ्कपर लेट गयी। हम दोनोंकी दृष्टि—मेरी और उनकी दृष्टि बहिन ! तेरे वाम पदतलकी ऊर्ध्वरेखापर केन्द्रित हो गयी और वे मुझे मधुस्यन्दी स्वरमें उस चिह्नका परम शुभ फल बतलाने लगे—उसकी महिमाका निर्देश करते-करते वे थक नहीं रहे थे। तेरे विश्राममें व्याघात न हो, इसलिये वे मेरे कानोंसे सटकर ही बतला रहे थे। तो बहिन, क्या वे उक्तियाँ भी सर्वथा मिथ्या हैं ?".. इतने ही स्वर निस्सृत हो सके इन्दिराके अधरपुटोंके अन्तरालसे; और फिर कपोलोंपरकी अश्रुधारा धीमी पड़ गयी। विलयके वितानकी छाया उसके अङ्गोंपर सुस्पष्ट दीख रही थी।

"किशोरी बहिन ! हेमन्तकी शुक्ला अष्टमी थी प्रथम मासवाली ! हिमकर निकुञ्जवल्लरीकी ओटमें तेरा नमन कर रहा था और अनुमति ले रहा था। साथ ही तुझे एक रसमय संदेशका दान कर रहा था। उस समय नीलसुन्दर जो सहसा मुझे कह बैठे थे, उसे मैं कैसे भूलूँ, बहिन !···" बुझते हुए दीपककी भाँति मनोहराके नयनोंमें ज्योतिकी एक रेखा-सी आयी और तत्क्षण वह विलीन हो गयी, मानो घनतिमिरमें सदाके लिये।

"अरी बहिन लाड़िली ! शुक्ला नवमी थी री वैशाखकी ! गम्भीर निद्रामें हम सभी निमग्न थीं, और साथ ही एक स्वप्न भी हम सबने—एक ही स्वप्न, भला—देखा था। नीलसुन्दरने ही हमें उस क्षण जगाया था और वे क्या बोले थे, तुझे बतला चुकी हूँ, बहिन !"···

कैसे क्या हुआ, कहना कठिन है ; पर साँवरके दूत उद्धवको यह प्रतीत हुआ कि एक साथ शत-सहस्र कण्ठोंसे उपर्युक्त रव निस्सृत हो रहा है और फिर सहसा इतने कण्ठोंके एक समान अट्टहाससे सरोवर-परिसर मुखरित हो उठा—क्षणभरके लिये। किंतु दूसरे ही क्षण सारा वनस्थल परिव्याप्त हो गया महाप्रलयकी भीषण नीरवतासे—कितने क्षण कौन बताये ?

× × ×

इतनेमें अचानक आगका एक झंझावात-सा आया, मानो उस महाविलयकी पुनरावृत्ति हो। पर उस महाध्वंसके परिणाममें अन्तर था। नीरवता फिरसे मुखरित हो उठी ! अचानक, एक साथ ही वृषभानुनन्दिनी राधाकिशोरीकी सम्पूर्ण सहचरियाँ ऐसे करुण स्वरसे रो उठीं कि उद्धवकी बात दूर, सरोवरका सम्पूर्ण नीर विकल हो उठा; सचमुच-सचमुच उसमें बाढ़ आ गयी और क्षण बीतते न-बीतते वह चारों कूलोंको प्लावितकर, सरोवरकी सीमाका उल्लंघनकर, उन गोपसुन्दरियोंको कटितक निमग्नकर, वनस्थलके तरुजालोंसे टकराने लग गया। वनस्थलीकी सम्पूर्ण द्रुमावली, वल्लरियाँ व्याकुल होकर झूमने लगीं। इतना वेग था सरोवरके उस नीरमें। सह न सका था वह गोपसुन्दरियोंके करुण-क्रन्दनको। इतना विकल-विह्वल था इस समय वह।

और इसी प्रवाहमें उद्धवका सारा मल धुल गया। 'मैं परमतत्त्वका ज्ञाता हूँ, साँवरका किंकर हूँ'—यह अभिमान लेकर जो वे आये थे, यह अभिमान भी उसी प्लावनमें बहकर न जाने कहाँसे कहाँ जाकर इतिके बिन्दुमें विलीन हो गया। नील-

सुन्दरसे जुड़ा हुआ जीवन कैसा होता है, होता रहता है, कैसे-से-कैसे हो जाता है—आज वे प्रत्यक्ष उसका तनिक-सा निदर्शन देख सके किशोरीकी सहचरियोंके जीवनमें।

उद्धवके अन्तरका द्वार खुल गया और आज उन्हें सच्चा प्रकाश मिला। उनकी आँखोंपर अनादि तिमिरकी एक छाया थी : वह आज, आज जाकर अपसारित हुई। नीलसुन्दर क्या वस्तु हैं, राधाकिशोरी क्या वस्तु हैं, रस-तत्त्व क्या है—जिस पथसे चलकर कोई भी इसका यत्किंचित् आभास पा सका है, वही पथ आज उद्धवको भी प्राप्त हो गया।

अबतक भानुकिशोरी पुतली-सी निस्पन्द बनी बैठी थीं। उनके हृत्तलकी भावनाएँ विगलित होकर अविराम अश्रुके रूपमें परिणत होकर आँखोंके पथसे बाहर आती रही थीं और एक अश्रुकी अखण्ड रेखा निर्मित थी उनके कपोलोंपर। उद्धवकी आँखोंमें भानुनन्दिनीका वह रूप समा गया। निर्निमेष नेत्रोंसे वे देख रहे थे राधाकिशोरीकी उस अप्रतिम भावमयी धाराको—नयनोंके प्रवाहको। उनके उरःस्थलमें दो-एक बूँद जाते-न-जाते वे एक विचित्र अनुभूतिमें निमग्न हो गये।

उन्हें अनुभव हुआ, मानो सहसा विद्युत-सी—बिजली-सी कौंध गयी। राधाकिशोरी जो नीला लहँगा धारण किये हुए थीं, उसके अन्तरालमें ही वह विद्युतका प्रकाशपुञ्ज उन्हें दीख रहा था। और वे अनुभव करने लगे कि सच-सच यह तो नील सुन्दरका पीत दुकूल नीले लहँगेमें झलमल-झलमल कर रहा है। अरे ! यह क्या ! इस पीले अम्बरमें, पीत दुकूलमें, फिर देखो, राधाकिशोरीकी नीली साड़ी लहरा रही है। उफ् ! क्या हो रहा है—मैं क्या देख रहा हूँ—फिर इसी, इसी नीली साड़ीमें नीलसुन्दरका पीत परिधान सर्वथा सर्वांशमें ही स्यूत हो रहा है, मानो नीले-पीले वस्त्रोंका एक क्रम निर्धारित कर दिया गया हो। नीलेमें पीला, पीलेमें नीला, फिर नीलेमें पीला ऐसे तह-पर-तह सजे हुए अगणित वस्त्रोंका अम्बार लगा हुआ हो। कहीं लहँगेकी आकृतिमें कोई असम्भावित दृश्य नहीं है—उतनी-की-उतनी आकृति है; पीत दुकूलकी आकृति भी ज्यों-की-त्यों है। किंतु एक-दूसरेके अन्तरालमें ज्यों-के-त्यों अनुस्यूत अनन्त, नील-पीत परिधान-खण्डोंमें वह अम्बार सुशोभित हो रहा है।

"हैं, हैं, यह क्या ? वह देखो राधाकिशोरीके पद-पृष्ठोंकी, मृदुल अँगुलियोंकी स्वर्णिम छविमें नीला प्रकाशपुञ्ज भरा है। अरे। नीलमेघ—नीलसुन्दर भरे हैं और फिर देखो, उन नीलमेघमें पुनः पीली लहरें उठ रही हैं…"

उद्धवकी आँखें जब राधाकिशोरीके कटिदेशसे ऊपर जाती तो उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव होता—राधाकिशोरीमें नीलसुन्दर परिपूरित हैं—खड़े हैं और फिर ओहो ! नीलसुन्दरमें राधाकिशोरी परिपूरित हैं—खड़ी हैं—बैठी हैं। जैसे-जैसे उद्धवकी आँखें भीतरकी ओर प्रविष्ट होती, उन्हें अनुभव हो रहा था—क्रमशः असंख्य नीलसुन्दर हैं और उन असंख्य नीलसुन्दरके अन्तरालमें असंख्य वृषभानुकिशोरी विराजित थीं।

इस प्रकार देखते-देखते उद्धव भ्रमित हो गये कि 'मेरे सामने नीलसुन्दर विराजित हैं या राधाकिशोरी विराजित हैं कि दोनों विराजित हैं अथवा क्या है?' विवेक समाप्त हो गया, बुद्धि कुण्ठित हो गयी उद्धवकी। अजब-सी दशा थी और व्याकुल होकर वे पुकार उठे—'नीलसुन्दरके प्राणोंकी अधिदेवी हे राधाकिकोरी ! हे देवोके देव नीलसुन्दर !! पाहि, पाहि, पाहि···' उद्धव इससे अधिक देख न सके; उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

नयन निमीलित होते ही कर्णपुटोंमें मधुरतम वंशीकी ध्वनि, वंशीकी मधुस्यंदी तान उद्धवको सुन पड़ने लग गयी। उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे वह रव क्रमशः निकट-निकटतर होता जा रहा है। वंशीकी स्वर-लहरीमें ऐसी मादकता पूरित थी, जिसका अनुभव उन्हें कभी कहीं अनादिकालसे न हो सका था। उद्धव मोहित होकर झूमने लग गये।···बरबस उद्धवकी बंद आँखें खुल गयीं और दीख पड़ा अप्रतिम सुंदर एक वनस्थल। संध्या हो रही है, नीलसुन्दर नन्दनन्दन गो-चारण कर धीरे-धीरे वनसे लौट रहे हैं—अत्यन्त समीप आ गये हैं, मेरे पास आ गये हैं। अब तो जहाँ वे अवस्थित हैं, वहाँ उनमें और मुझमें केवल दो हाथकी दूरी रह गयीं है। मैं पथके एक किनारे खड़ा हूँ। अरे ! नन्दनन्दन हँस रहे हैं। आ हा ! वे मधुमय स्वरमें कह रहे हैं— 'अरे भैया ! मेरा घर तो यही, यह वृन्दावन ही है।'

'अरे देखो, उद्धव भैया ! देखो, मेरी मैया वहाँ, वहाँ उस नन्दद्वारपर, नन्दभवनमें हाथमें नीराजन लिये आकुल प्राणोंसे मेरी प्रतीक्षा कर रही है, सोच रही है—मेरा लाल नीलमणि आ ही रहा होगा। देखो, देखो, दृष्टि उठाकर उस ओर देखो ! सुनो उद्धव ! बस, केवल तीन पहर ती बीते हैं—अपनी गायें लिये मैं अरण्यमें घूम रहा था। और मेरी मैया व्यर्थमें चिन्ता कर रही है मेरे लिये। देर हो गयी है कुछ, रे भैया ! आनेमें आज मुझे।'

क्षण बीतते-न-बीतते उद्धवको फिर यह अनुभूति हुई—कृष्णा-प्रवाहिणी—कलिन्दनन्दिना अहा ! कैसी हिलोरें ले रही हैं—और दोनों तटोंपर निकुञ्ज सदमोंकी

पंक्तियाँ लगी हैं। ये देखो, राधाकिशोरीको गरबाँहों दिये नीलसुन्दर निकुञ्जकी ओटसे अब बाहर आ रहे हैं। किशोरीके दक्षिण स्कन्धपर उनके हस्त-कमल विराजित हैं। राधाकिशोरीसे वे कुछ कह रहे हैं। आँखोंसे प्यार झर रहा है। नीलसुन्दर विह्वल-से हो रहे हैं ··।

'यह देखो, दोनों हँसते हुए चले जा रहे हैं उस ओर, उस निकुञ्जश्रेणीकी ओर।' आँखोंके आगे नवीन-से-नवीन अप्रतिम सुन्दर मनोहर दृश्योंका ताँता लग रहा था। उद्धव आनन्दमें उन्मत्त होते जा रहे थे। कौन बतावे, कैसे बतावे कि उद्धवने क्या-क्या देखा था। इतना ही कहना सम्भव है—नीलसुन्दर वृन्दा काननसे कहीं बाहर नहीं गये हैं और राधाकिशोरीके साथ उनकी नित्य क्रीड़ा अविराम रूपसे चल रही है। यह यह प्रत्यक्ष अनुभूति उद्धवके प्राणोंको निरन्तर उन्मत्त बना रही थी और इसी प्रवाहमें मानो वे अपने आपतकको सर्वथा खो बैठे। कितने दिन, कितने मास, कितने संवत्सर, कितने युग-युगान्तके लिये यह अनुभूति उद्धवके मानस-तलमें लहराती रही—कालमानसे इसका निर्णय असम्भव है। उद्धवको सर्वथा विस्मृति हो गयी थी, वे कितने दिन पहले वृन्दा-काननमें आये थे। आनन्दकी लहरें उन्हें घेरे रहतीं और वे उसमें डूबे रहते - बोलते वे न थे। राधाकिशोरीकी सहचरियाँ जो कुछ उन्हें सुनातीं, वे सुनते रहते; किंतु किशोरीके सम्मुख जाते ही वे रोने लग जाते थे—अविराम रोते ही रहते, जबतक किशोरी दीखती रहतीं।

× × ×

अस्तु, नीलसुन्दरका संकल्प जाग्रत् हुआ और अचानक उद्धवको यह भान हुआ कि वे यहाँ किस उद्देश्यसे आये थे और कब आये थे। और इस प्रतीतिके साथ ही नीलसुन्दर निरन्तर यहीं रहते हैं, यह अनुभूति भी एक अभिनव आवरणमें विलीन हो गयी। उन्हें अब यह दीख रहा था—वेदनाका समुद्र हिलोरें ले रहा है, जिसमें गोप-सुन्दरियाँ डूब रही हैं। और वे तटपर खड़े हैं उस सागरके, एकटक देख रहे हैं—मात्र इतनी ही स्मृति रह गयी उद्धवमें।

उद्धवके प्राण रोने लगे—उद्धवके प्राण भी रोने लग गये। साथ ही दैन्यके स्रोत फूट पड़े उनमें—ऐसे मानो उनके अस्तित्वको ही वे विलुप्त कर देंगे। धैर्य छूट रहा था उनका और वे सोचते जा रहे थे—'हाय रे! हाय रे!! मैं सर्वथा-सर्वथा अन-धिकारी हूँ इन गोपसुन्दरियोंके दर्शन करनेका भी। स्वप्नमें भी इनके दर्शन मुझे हों—असम्भव! किंतु मेरे साँवर मौखिक शरणागतिसे भी रीझ जाते हैं, ढर जाते हैं। मैंने

उनकी केवल वाणीभरकी शरण ली है; इसीलिए वे मुझपर प्रसन्न हो गये थे और उन्होंने दया कर मुझे ही यहाँ भेजा।

'पर अब तो मुझे यहाँसे जाना है। मेरे-जैसा व्यक्ति राधाकिशोरीके चरण-सरोरुहोंकी छायामें कैसे रह सकता है। हाँ, यदि मैं अपने उर:स्थलको अविराम अनंत कालतकके लिये आँसूसे सींचता रहूँ, कभी मेरे अश्रुका विराम हो ही नहीं, तब कहीं जाकर वृन्दा-काननमें रहनेकी वह मेरी अभिलाषा, अभिलाषा-वल्लरीका बीज अंकुरित हो।

'व्यथाका भार मैं ढो नहीं सकूंगा--केवल इस व्यथाका कि मुझे राधाकिशोरीके दर्शन तो हो गये, किंतु मेरे भाग्य ऐसे नहीं हुए कि मैं किशोरीका स्वर सुन सकूँ। कैसा मधुस्यन्दी स्वर होगा किशोरीका ! मेरे-जैसे महा-अभिमानीको इनसे विनय करने-का भी अधिकार नहीं है—सत्य-सत्य ही मैं अनुभव कर रहा हूँ। मैं इस पावन धरा-का स्पर्श कर सका, किशोरीके दर्शनसे मेरी आँखें सफल हुईं—इतना ही बहुत-बहुत सौभाग्य मेरा है···।

'किंतु जीवित तो रह नहीं सकूंगा मैं, यदि किशोरीकी वाणी मैंने नहीं सुनी तो। कदाचित् एक-दो शब्द भी सुन लेता तो अनन्तकालतक मैं जीवित रह जाता और मुझे जीवनका पाथेय मिल जाता। साथ ही मेरे समान सौभाग्यशाली विश्वमें और कोई भी न होता।'

उद्धवकी आँखोंसे बूंदें बरस रही थीं और अवनी गीली हो रही थी। अत्यन्त अधीर हो उठे थे वे। राधाकिशोरीसे कुछ भी कहनेका अधिकारी नहीं, नहीं, नहीं हूँ मैं ! किंतु साँवरसे तो कह ही सकता हूँ। जिन्होंने इतनी कृपा की—मुझे अपनी प्राण-प्रियाका दर्शन कराया, वे कदाचित् मेरी अग्रिम विनयको भी सुन लें।' उद्धव मन-ही-मन चीत्कार कर उठे—दया, दया, कृपा, कृपा ! हे श्यामसुन्दर इतनी सी दया मुझ पर और कर दो—मेरे ये कर्णपुट सदाके लिये प्यासे न रह जायँ, इतनी भीख और दे दो, दयामय ! वृन्दा-काननमें फिर, फिर, फिर आनेका सौभाग्य मुझ—जैसोंके भाग्यमें नहीं है नाथ ! कृपाकी भीख—भीख—भीख—।' उद्धवके प्राण भीख—भीखका स्वर भर रहे थे भीतर ही भीतर।

नीलसुन्दर ही वियोगके दुःख-भारको सह्य बनानेके उद्देश्यसे, प्राणेश्वरी प्राण-वल्लभा राधाके अमित माधुर्यको प्रस्फुटित करनेके उद्देश्यसे, महाभाव-रस-समुद्रको

उद्वेलित करनेके उद्देश्यसे स्वयं ही राधाकिशोरीकी सहोदरा छोटी साँवरी बहिनके रूपमें विराजित रहते थे । उस समय भी किशोरीके दक्षिण पार्श्वमें अवस्थित थे । वह साँवरी ही करुणाकी प्रवाहिणीमें अवगाहन कर करुणाकी धारासे ओत-प्रोत स्वरमें सहसा कह उठी —'अरी बहिन ! देख, एक दूत आया है—उनका सन्देश लेकर वह आया था, और अब पुन: साँवरकी ही सेवामें लौटने जा रहा है । तू भी इसे कुछ सन्देश दे दे, बहिन !'

मानो नीलसागरके अतल तलसे राधाकिशोरी ऊपर उठ आयी हैं, इस भाँति उनके नयन-सरोज उन्मीलित हुए । अपनी कनिष्ठा बहिनके चिबुकको छूकर किशोरी फूट-फूटकर रोने लग गयीं। सुबकी भर-भरकर वे रोती जा रही थीं; किंतु फिर न जाने कैसे उनमें समयोचित धैर्यका संचार हुआ और अपनी बहिनका लाड़ रखने चलीं वे······।

किशोरी मुखर हुई....

भानुकिशोरीने अञ्चलसे अपना अश्रुमार्जन किया। ग्रीवामें झूलती हुई वन-मालाको उतारकर अपने वाम कर-सरोज पर स्थापित कर लिया--वही माला यह है, जो नीलसुन्दरने तपन-तनयाके तटपर, तमाल-तरुकी छायामें, मधुपुर जानेसे पूर्व, प्राणप्रियतमाको पहनायी थी। नहीं-नहीं, नीले कण्ठदेशसे नील भुजपाशका बन्धन शिथिल होते-न-होते यह सुमनहार अपने-आप सरककर किशोरीके कण्ठदेशको आवेष्टित करने लग गया था। अस्तु,

भानुराजनन्दिनीने अपनी दृष्टि उस हारपर केन्द्रित कर बोलना प्रारम्भ किया--"दूत ! मैं तुम्हें अपने प्राणनाथके लिये क्या संदेश दूँ ? पर तुम संदेश लेने आये हो--ऐसी बात मेरी बहिन कह रही थी। तो क्या ? कहूँ अच्छा, तुम उनसे कहना--राधाने कहा है—'मेरे प्राणरमण ! तुम सुखसे रहना। स्वप्नमें भी तुम्हें शोककी छाया भी न छू सके...।" सुन्दरीसरोवरकी धरा काँप उठी, जल फेनिल हो उठा; पर भानुकिशोरी उसी स्वरमें बोलती चली जा रही हैं—"और फिर कहना —'मेरे असंख्य प्राणोंके आराध्यदेव ! विचित्र-सी स्थिति है मेरी। मैं अनुभव कर रही हूँ—यह मेरा उरःस्थल निकुञ्जदेशके रूपमें परिणत हो गया है। कबसे ? जानती नहीं। किन्तु यही निकुञ्ज-स्थल; और इसमें ही--इसमें ही एक मात्र तुम्हीं नित्य-निरन्तर निवास करते रहते हो। कह नहीं सकती, प्राणवल्लभ ! कि यह मुझे निरन्तर भ्रम ही हो रहा है या सत्य है, यह—मैं समझ ही नहीं सकती। कितनी बार सोच चुकी हूँ, पर समझ न पायी। अथवा तुम दो बन गये हो, दो बनकर तुम निरन्तर मुझसे खेल रहे हो या मैं सचमुच ही उन्मादिनी हो गयी हूँ—इसका निर्णय कौन करे ? हाय रे ! तुम्हीं अपने मनमें इसका निर्णय कर लेना कि वस्तुस्थिति क्या है।

"अच्छा ! सचमुच ही यदि तुम चले ही गये हो--अपनी इस दासीको यहीं छोड़कर वास्तवमें ही तुम अब कहीं अन्यत्र निवास कर रहे हो तो फिर नितान्त सत्य है —तुमने सर्वथा उचित ही किया है। और अब तुम्हारा जीवन सुखी होगा, मेरे नाथ ! सुखके समुद्रमें तुम डूबे रहोगे। अबतक—तुम एक दुष्पार भ्रान्तिमें पड़े थे; इसका हेतु यह था—तुम अप्रतिम सुन्दर हो। तुम्हारे हृत्तलमें निर्मल अनुरागकी ऊर्मियाँ

निरन्तर हिलोरें लेती रहती हैं। और इसीलिए तुम्हें मुझमें सुन्दरताका भ्रम हो गया था। यह नियम है — जो जैसा होता है, उसे सभी वैसी ही प्रतीति होती है। इसीलिए निर्मल अनुरागकी लहरियोंमें बहते हुए, सौन्दर्यपूरकी किरणें बिखेरते हुए तुम्हें मेरे अंदर सौन्दर्यकी भ्रान्ति हुई थी।

"वस्तुस्थिति तो यह है, प्राणनाथ! कि सद्गुणका एक कण भी—किसी भी सद्गुणका कणिकांश भी मुझमें नहीं है, और सम्पूर्ण दोषोंकी जीवन्त प्रतिमा हूँ मैं। पर बलिहारी है तुम्हारे अनुरागभरे नयनोंकी — तुम्हारे सौन्दर्यपूर उर:स्थलकी कि तुम केवल, केवल मुझपर ही न्योछावर हो गये थे और तुम्हें मेरे अतिरिक्त अन्य सबकी विस्मृति हो गयी थी। एक बार नहीं, शत-सहस्र बार लज्जाके घन आवरणमें मेरे प्राण समा जाते थे, जब मैं अनुभव करती — तुम मुझे अपना सर्वस्व-समर्पण करके सजल आँखोंसे गद्-गद कण्ठसे 'प्राणेश्वरी' कहकर सम्बोधित करते और उर:स्थलमें स्थान देते — भुजपाशसे मुझे वेष्टित कर लेते — मुझ सर्वथा गुणसे, सौन्दर्यसे विरहिताको। हाय रे विधिकी विडम्बना ···।

"कालके प्रवाहमें न जाने असंख्य बार मैं सोचती थी — जब मुझमें रूप नहीं, गुणका लेशमात्र भी नहीं, तब मेरे जीवन-सर्वस्व जो तुम हो, उनका — तुम्हारा भ्रम मैं कैसे दूर करूँ? मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ? कोई उपाय मुझे सूझता न था, प्राणनाथ! इतनेपर भी प्रतिदिन ही मैं किसी-न-किसी रूपमें तुम्हें प्रत्यक्ष संकेत कर ही देती थी कि 'तुम चेत जाओ, इस भ्रमजालसे ऊपर उठ जाओ किंतु जब मैं थक जाती थी समझाते-समझाते तब मेरे अन्तस्तलमें स्फुरणा जगती कि 'चलूँ शृंगार-कुञ्जमें और अपने अङ्गोंको सजाऊँ और देखूँ, क्या परिणाम होता है इसका...।"

"मैं सदा — प्रतिदिन ही शृङ्गार धराने, शृङ्गार धारण करने कुञ्जमें तभी गयी थी, गोष्ठके उस कक्षमें तभी प्रविष्ट हुई थी, जब मेरी चित्तवृत्ति एक प्रेरणा देती — कदाचित् सँवारनेसे, शृङ्गार धारण करनेसे मैं सुन्दरी हो जाऊँ, मैं सुन्दर दीखने लग जाऊँ। तनिकसा ही भान करा दे दर्पण अपने प्रतिबिम्बमें मुझे — 'अरी राधा! आज किञ्चित्-सी सौन्दर्यकी रेखा तेरे मुखपर आयी है।' और मैं नवीन परिधान धारण भी तभी करती थी, विभिन्न आभरणोंका चाकचक्य तभी स्वीकार करती थी, चन्दनका विलेपन मुझे छू सके — यह अनुमति मैं तभी देती थी, जब मुझे क्षणिक भ्रान्ति होने लगती थी — हो सकता है, ये वसन-भूषण-चन्दन मेरे कुरूपको आवृत कर दें। मेरे प्राणनाथ नीलसुन्दरको आधे क्षणके लिये मेरा यह कुरूप सुखदान कर सके। और अपने अंदर सद्गुणोंके आविर्भावके लिये मैं अपनी इन सहचरियोंका

ध्यान किया करती थी—इस आशासे कि इनकी छाया भी मैं छू लूँ, इनके आदर्श गुणों-का एक स्वल्प, झीना प्रतिबिम्ब भी मेरे अंदर संक्रमित हो जाय ··· ।

"किंतु सदा, सर्वथा, सर्वांशमें मुझे यही अनुभव होता आया था, आया है कि मैं गुणवती, सुरूपा बन ही नहीं सकी, जिसे तुम अपना सर्वस्व-दान कर सको । इतने-पर भी तुम्हारे द्वारा मुझे यह प्यार मिला था, जिसे अबतक कोई भी ले ही नहीं सकी । अनादि प्रवाहमें किसी भी गोप-सुन्दरीके प्रति तुम्हारे द्वारा वह प्यार-दान हुआ ही नहीं । आगे होगा या नहीं, इसे तो तुम्हीं बता सकोगे, मेरे प्राणनाथ···!

"अतएव यदि यह सत्य है कि तुम अब मुझसे पृथक् हो गये हो और उस राजाकी नगरीमें जाकर सचमुच ही कहीं निवास करने लगे हो और सचमुच तुम्हारी रुचिके अनुरूप कोई जीवन-सङ्गिनी तुम्हें प्राप्त हो गयी है, अहा ! तब तो आज—आज मेरा भाग्योदय हुआ, खुल गया मेरा भाग्य ! और सचमुच, सचमुच आज प्रथम बार मैं सुखिनी हुई हूँ ···।

"विधिने मेरी विनती सुन ली—तुम जाग उठे, चेत गये तुम। मेरे प्रति जो महामोहका पाश तुम्हें बद्ध किये हुए था, वह छिन्न-भिन्न हो गया · टूट गया वह .. अहा ! प्राणाधिक ! मेरे नीलसुन्दर ! यदि सचमुच ही तुम अपने अन्तर्हृदयका प्यार किसीको देकर मुझे भूल गये हो —अपने स्मृतिपथसे दूर फेंक चुके हो मुझे तो अहा ! तुम कितने सुखमें होओगे, मेरे जीवनसर्वस्व ! कितने असीम सुख-सिन्धुमें तुम अवगाहन कर रहे होगे प्राण-रमण...।

"देखो, सही ! यह मैं कल्पना ही तो कर रही हूँ ! पर जब यह कल्पना ही मुझे इतना अपार सुखदान कर रही है, तब कहीं यह सत्य हो जाय, फिर, फिर तो क्या कहना है ··यही तो मेरे जीवनकी साध थी, है—'प्रियतम प्राणनाथ नीलसुन्दर मुझे भूल जायँ···।'

"किंतु असम्भव है यह होना, प्राणाधिक ! तुम मुझे भूल सको—यह न हुआ है, न होगा। मैं कालके अनादि प्रवाहमें परिचित हूँ तुम्हारे स्वभावसे—तुम्हारी चित्त-वृत्तिकी ऊर्मियोंसे । मैं जानती हूँ, तुम कैसे हो प्रियतम···।"

भानुकिशोरीके मुखपर अरुणिमाका संचार हो आया, उन्मादकी लहर आँखोंमें नाच उठी और वे दृष्टि घुमा-घुमाकर देखने लगती हैं वनस्थलकी लता-वल्लरियोंकी ओर···और फिर आकाशकी ओर, मानो किसीको ढूंढ़ रही हों उनकी आँखें। एक

अट्टहास फूट पड़ता है उनके अधरोंके अन्तरालसे और फिर नीरवताके क्षणिक आवरण-में उनकी आँखें निमीलित हो जाती हैं। तथा निमीलित नेत्रोंसे ही बिना किसी लक्ष्यके वे कहने लगती हैं—

"तो कोई दूत बनकर आया है ! अच्छा, अरे दूत ! तुमसे कह रही हूँ, भला, और उनसे, उनसे, जो अगाध परिताप लेकर मुझसे कहा करती हैं उन सहचरियोंसे—बस, तुम दोनोंसे ही कह रही हूँ, और किसीसे नहीं, भला। पर तुम इसे प्रकट मत करना किसीके समक्ष। अच्छा, तो सुनो ! तुम सब-की-सब और, दूत ! तुम भी चले जाओ, नीलसुन्दर मेरे प्राणनाथके समीप और जाकर स्वयं देख लो—क्या दशा है उनकी, मुझसे जुड़े रहनेके कारण। मेरे प्राणवल्लभके जीवनका रूप क्या हो गया है, मुझसे सम्बद्ध होकर, यह स्वयं जाकर देख लो तुम दोनों।

"देखो ! सीधे उनके सामने खड़ी हो जाना, खड़े हो जाना, अपनी अँगुलियों-को उनके वक्षःस्थलके बीच स्थापित कर देना। तुम्हारी अँगुलियाँ सुनने लगेंगी, कर्ण-रन्ध्रोंकी तो बात ही क्या है, तुम्हें स्पष्ट सुन पड़ेगा, वक्षःस्थलकी प्रत्येक धड़कनमें 'राधा-राधा-राधा'—यही स्वर स्पन्दित हो रहा है। और फिर क्या करना—आँखोंकी, उनके नयन-सरोजोंकी काली पुतलियोंकी ओर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर देना। देखो, तुमको वहीं, तुरंत प्रत्यक्ष दीख जायेगा—उन नयन-सरोजोंकी काली पुतलियोंमें तुम्हें अपना प्रतिबिम्ब नहीं दीखेगा, अपितु वहाँ मैं, बस, इसी रूपमें, ज्यों-की-त्यों, खड़ी दीखूँगी। नयन-सरोरुहोंके असितसित अंशोंके कण-कणमें 'मैं-ही-मैं, मैं राधा, मैं ही-मैं, मैं राधा, मैं-ही-मैं, मैं राधा, मैं-ही-मैं, मैं राधा, भरी हुई मिलूँगी। और फिर अपनी दृष्टि उनके श्रीअङ्गकी रोमावलीपर केन्द्रित करना—प्रत्येक रोममें मैं ही परिपूरित मिलूँगी। प्रत्येक रोममें मेरा ही रूप तुम्हें अभिव्यक्त मिलेगा। फिर देखना—जहाँ वे विराजित हों, जिस वृक्षके नीचे वे अवस्थित हों, जिस कक्षके जिस पार्श्वमें वे सुशोभित हों, उसके कण-कणमें, उस वृक्षके क्षुद्र-से-क्षुद्र अंशमें, उस कक्षके प्रत्येक परमाणुमें मैं-ही-मैं, मैं राधा, री, अरे दूत ! मैं राधा, इसी-इसी राधाका मुख झलमल करता दीखेगा तुम्हें ! क्योंकि उनकी प्रत्येक वृत्तिमें मेरे अतिरिक्त किसीका अस्तित्व है ही नहीं। सुनते हो, ऐसा है उनका और मेरा सम्बन्ध ··।

"किंतु एक बात अवश्य है—उनके अन्दर कोई शक्ति है, भैया दूत रे और बहिनो ! कोई छिपी हुई शक्ति है उनमें। इसीलिये उन्हें कोई पहचान ही नहीं पाता। दूत ! तुम भी बड़े भोले हो और बहिनो ! तुम और भी भोली हो। दूत ! सुनो—बहिनो ! सुनो—उनका और मेरा वियोग होना असम्भव है। पर इसे जान लेना भी

आसान नहीं है, इसे अनुभव कर लेना बड़ा ही कठिन है—निरन्तर निर्बाध क्रन्दनके द्वारा जब तुम्हारी आँखोंका मल सर्वथा धुल जायेगा, तभी—तभी यह सत्य सामने आयेगा। और एक बार उस सत्यको अनुभव कर लेनेपर वह सत्य तुम्हारा चिरसङ्गी बन जायेगा। तुम्हारे लिये वह सुलभ-से-सुलभ वस्तुका रूप धारण कर लेगा।

"अच्छा! तुम्हारे अंदर जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी—तुम सब मेरी इतनी-सी बातपर विश्वास न कर सके और जानना चाहते हो कि 'तब फिर मैं रोती क्यों हूँ।' ठीक ही तो है—जब प्रियतम निरन्तर मेरे साथ हैं, उनका—मेरा वियोग होगा नहीं तो 'मैं रोती क्यों हूँ'—यह भ्रम होना स्वाभाविक है। दोनों बातें साथ कैसे होंगी?

"बड़ा ही अद्भुत मर्म है उसका। आज मैं निर्लज्ज हो गयी हूँ, इसीलिये बताती हूँ। नहीं तो नहीं बताती। अब क्या, क्यों, किससे संकोच करूँ? इसीसे कह दे रही हूँ। देखो, मेरा यह क्रन्दन अनादि है और इस क्रन्दनका कभी विराम भी नहीं होगा। अनन्त कालतक निरन्तर यह क्रन्दन चलता ही रहेगा। ऐसा क्यों? तुम समझ सकोगे? बतला दूँ? अच्छा, समझ सको तो समझ लो, जान लो, देख लो। यह क्रन्दन ही मेरा जीवन है, यही मेरा रूप है। मेरा जीवन अनादि अनन्त क्रन्दन है!..."

भानुकिशोरी पुनः अट्टहास कर देखने लगीं सरोवरके फेनिल जलकी गतिको। और फिर यन्त्रवत् अपना सिर दोलित कर बोलने लग गयीं—"अरे दूत! तुम स्मरण रख सकोगे मेरी इन बातोंको··? तो क्या करूँ? अच्छा, कुछ सुन लो। जितना-सा अंश तुम्हें स्मरण रहे, उतना-सा ही कह देना मेरे प्राणनाथको। पर उसे स्मरण रखनेकी कला मैं तुम्हें सिखा दे रही हूँ। सुनो! सीखोगे उस कलाको? देखो, मेरे उरःस्थलमें एक पाठशाला है—कब निर्माण हुआ इस पाठशालाका, जानती नहीं! पर मैं उसीमें न जाने कबसे पढ़ रही थी और आज भी उसमें ही पढ़ती हूँ। मैंने अपने-आपसे पूछा था—'इस पाठशालाका नाम क्या है? कोई उत्तर न दे सका। तब हार-कर वहीं अपने प्राणनाथ नीलसुन्दर, जो मेरे हृत्तलमें ही निरन्तर विराजित रहते हैं, उनसे पूछ बैठी मैं। उत्तरमें वे बोले नहीं, पर उनके नयन-सरोजोंसे अश्रुकी बूँदें ऐसी ढलक पड़ीं कि मुझे उस पाठशालाके नामका भान हो गया। उस पाठशालाका नाम है—'प्रेम-पाठशाला'। तुम्हारे लिये यही नाम सुबोध हो सकेगा।

"तो मैं उसीमें पढ़ रही थी, पढ़ रही हूँ। उसका प्रथम पाठ है—वर्णमालाका उच्चारण करके उन वर्णोंको लिखना। देखो! पर तुम्हें तो मैं वर्णमालाका एक ही नाम बताऊँगी। सुनो—'कृष्ण'—इस वर्णका उच्चारण करते-करते शेष सम्पूर्ण वर्ण-

मालाका तुम्हें भान हो जायगा । और फिर तुम उस वर्णमालाकी आकृतियोंको, उनके रंगोंको अपने हृत्तलपर अङ्कित करते जाना । मैं यही करती हूँ, यही करती थी ।

"देखो ! उस कृष्णवर्णके अन्तरालमें अरुणाभवर्ण बीस नखमणियाँ दीखेंगी । उनपर वृत्ति केन्द्रित होते ही फिर एक अभिनव नारङ्गवर्णकी छटा व्यक्त होगी— कहाँ, कैसे, तुम स्वयं समझ लोगे । इन दोनों वर्णोंको अपने हृत्पटलपर मैं निरन्तर लिखती रहती थी; तुम भी लिखते रहना, भला ।

"इसके पश्चात् एक पीतवर्णके दर्शन होंगे—सर्वथा अभिनव है वह पिङ्गलवर्ण ! तुम निरन्तर उसे भी अपने हृत्पटपर बसाये रहना । फिर इसके अनन्तर एक हरिद्-वर्ण समुद्भासित होगा—क्यों, कैसे, तुम स्वयं जान लोगे । बतलानेमें संकुचित हो रही हूँ, दूत ! पर इसे तुम प्रमुख स्थान देना, भला ! वृत्ति हटे ही नहीं इससे ! लिखते-लिखते श्रान्त कभी मत होना । फिर व्योमवर्ण, नीलवर्ण और वृन्ताकवर्ण—ये सब-के-सब उदित होंगे । अविरामभावसे 'कृष्ण-कृष्ण' उच्चारण करते रहना और इन वर्णोंकी आकृतिका निर्माण करते रहना । किंतु सावधान ! खड़िया मिट्टीसे नहीं, इसके लिये तुम्हारे अन्तस्तलसे अश्रुकी बूँदें निःसृत होंगी । काँचकी भाँति गोल-गोल बूँदें व्यक्त होती रहेंगी और तुम लिखते रहोगे उन वर्णोंको । अक्षरका ज्ञान इतनेमें ही तुम्हें हो जायगा । सम्पूर्ण प्रीति-पाठशालाके मातृका-वर्ण इन्हीं वर्णोंमें पर्यवसित हो जायँगे । फिर समझ पाओगे, दिनकरकी रश्मियोंमें इन्हीं वर्णोंकी छायाकी छायाकी छाया प्रतिभात हो रही है । ···

"जब तुम्हें अक्षरका बोध हो जायगा, तब जानते हो, दृश्य-प्रपञ्चकी सत्ता सर्वथा तुम्हारी आँखोंसे विलुप्त हो जायेगी । एक सत्य, एक ज्ञान, एक आनन्द—एक-रस सम्पूर्ण सत्य, एकरस सम्पूर्ण ज्ञान, एकरस सम्पूर्ण आनन्दकी बात तुमने कभी सुनी होगी न ? उसे तो तुम पलुएमें प्राप्त कर लोगे । जो हो, बड़ी सावधानीसे इस प्रक्रिया-का आश्रय लेकर वर्णोंको अङ्कित कर लेना सदाके लिये अपने उरःस्थलके अन्तरतम देशमें । ··

"अब आगे सुनो —जिसे अक्षरका बोध हो जाता है, जो वर्णमाला सीख जाती है, वह फिर शब्दोंको लिखती है । जानते हो, एक तो षड्जका शब्द आयेगा, एक ऋषभका, एक गान्धारका, एक मध्यमका, एक पञ्चमका, एक धैवतका और एक निषादका । पर यह शब्द-नामावली उस शब्दकी छायाकी छाया है, भला ! उन शब्दों-के लिये भी कोई नाम ही नहीं, रे दूत ! क्या बताऊँ ? पर जैसे, जिस भाँति मैं समझी

थी, पाठ पढ़ पायी थी, वैसे ही, उसी भाँति तुम समझ सको, इसलिये ही इतना-सा कह दे रही हूँ। कालके प्रवाहमें कब, कैसे, कितना इस प्रक्रियाका आश्रय मैंने स्वयं लिया, जानती नहीं, दूत ! बस, तुम मेरे संदेशको स्मरण कर सको, इसीकी कला सिखानेके उद्देश्यसे मैं इतना कह दे रही हूँ। अस्तु,

"इसे सीखनेकी प्रक्रियामें भी रजताभ वारि-विन्दु तुम्हारे नयनोंसे निरन्तर सृष्ट होते रहेंगे और शब्दोंको लिखना सीख जाओगे तुम। एक बाँसके खण्डसे ही ये सब शब्द निकले हैं, मैया ! कैसा होता है उस खण्डसे निःसृत शब्द --इसे तुम अनुभव करना। वाणी क्या बतलायेगी उसे···

"अब इसके अनन्तर संयुक्त वर्णोंका भान होगा तुम्हें। कैसे वे संयुक्त वर्ण होते हैं, उन्हें सुनकर तो तुम सीख नहीं सकोगे। पर लिखनेका अभ्यास अवश्य करना उन्हीं रजताभ बिन्दुओंके माध्यमसे। ये संयुक्त वर्ण बहुत ही सरस होते हैं, दूत ! फिर आगे चलकर उन्हें लिखनेके लिये अपने-आप स्वर्णिम कणावली झरती रहेगी तुम्हारी आँखोंसे। तुम लिख-लिखकर पढ़ते रहना उन संयुक्त वर्णोंको।

"अब विधेय-उद्देश्यमयी उस भाव पंक्तिका पाठ आरम्भ होगा। किंतु उस पाठका अर्थ इतना गूढ़ रहता है, जिसे तुम जान ही नहीं सकोगे। अज्ञात रहेगा उस पाठका गूढार्थ।

"इसके अनन्तर कुछ दिन प्रतीक्षा करते रहना। अपने-आप विशुद्ध सत्त्वमयी नयनोंकी अविराम धारा व्यक्त होगी और उसीसे लिखते-लिखते सम्पूर्ण पाठोंकी कुञ्जी तुम्हें प्राप्त हो जायेगी।

"इसके पश्चात् क्या होगा, तुम्हें बताऊँ ? एक होती है महाभाव विद्या, जो अबतक तुमने पढ़ी नहीं है दूत ! वह विद्या कैसी होती है, तुम्हें बता दूँ ? अच्छा, सुनो ! उस विद्याके आविर्भावमें किसीको अबतक हेतुका अनुसंधान प्राप्त नहीं हुआ है। बड़ा ही सूक्ष्म है वह। मलकी गन्धकी गन्ध नहीं है वहाँ—इतनी अमल है वह महाभावकी विद्या; और वह है प्रतिक्षण वर्धनशील। उसमें खण्डित होनेका कहीं भान नहीं होता। वह सर्वथा अखण्ड है। सीमाविहीन है वह। आजतक कोई भी उसका पार न पा सकी, न पा सका। और देखो ! वाणी छू भी नहीं सकती उसे। सर्वथा, सर्वांशमें वह स्वसंवेद्य है। बड़ी ही गम्भीर है वह, भला ! उस महाविद्याका 'अथ', सो भी कहनेके लिये, इस विशुद्ध सत्त्वमयी धाराके बिन्दुपर ही अवलम्बित है। उसी 'अथ'—को स्पर्श कर अब तुम अग्रसर होओगे।···

"इसके पश्चात् क्या है, इसे तो कोई भी नहीं कह सकती। और सत्य तो यह है कि जो आगे जाकर उसमें निमग्न हो गयी, वह कभी लौटती ही नहीं। जो भी, जो कुछ भी, कोई कहने चलती है, वह इधरकी ही बात है, दूत ! मेरी भी यही दशा है—मुझ-सी कहनेवाली उस महाभाव विद्याके समुद्रमें कभी डूबी ही नहीं।" इतना कहते-कहते भानुकिशोरी-में एक अभिनव आकुलताका उन्मेष हुआ। वे दौड़कर चल पड़ती हैं। सम्मुख ही श्यामल तमालकी शाखा भानुकिशोरीके सिरपर झूल-झूलकर मानो कुछ कहना चाहती है। उसे किशोरीने अपने दक्षिण कर-सरोजमें ले लिया। किशोरीको भान हो रहा है—सामने नीलसुन्दर खड़े हैं; मैं उनके कर-कमलोंको अपने करमें धारण किये हुए हूँ। साथ ही गद्‌गद कण्ठसे भानुनन्दिनी बोलती भी चली जा रही है—"मेरे जीवनकी एकमात्र निधि ! चलो, अब तुम चलो ! कहाँ ? वहाँ, वहाँ, वहाँ, उस नीले स्रोतके कूलपर। यही, यही माला, जो तुमने मुझे दी थी, पहनाई थी, उसीको मैं वहाँ, उसी स्थलपर तुम्हें पहना दूँगी। देखो, मैं इसे अपने नयनोंकी बूँदोंसे आर्द्र किये रहती हूँ—कहीं यह मुरझा न उठे, म्लान न हो जाय। तनिक भी इसमें परिवर्तन न हो, इसी भयसे मैं इसे अपने आँखोंकी बूँदोंसे सिक्त करती रहती हूँ। अबतक इस पाठशालामें मैं कैवल इतना-सा ही सीख सकी हूँ—'जो वस्तु तुमसे प्राप्त हो, उसे वैसे ही, उसी रूपमें रखना है।'

"तो अब चलो—तुम्हें तो चलना ही है; इस वनसे दूर-दूर चले जाना है तुम्हें, और मुझे साथ ही लेकर जाना है, भला ! चिरसङ्गिनी हूँ मैं तुम्हारी। अच्छा, तुम रूठ गये हो ? मैं विलम्ब कर बैठी, इसलिये तुम मुझसे खिन्न हो बैठे हो ? सुन लो–मैं क्यों ठहरी, इसका हेतु बतला दे रही हूँ। अरे ! प्रत्यक्ष देख लो – यह माला ही तो मेरा बन्धन है ! मैं इसे किसके हाथोंपर रखकर जाऊँ, किसे पहनाकर जाऊँ ? ऐसी अबतक कोई भी मुझे न मिली, जिसके करतलपर इसे प्रतिष्ठित कर भाग चलूँ—तुम्हारे साथ उस नीले स्रोतकी ओर—इस वनस्थलके उस पार उस पार, अत्यन्त दूर।

"इसे मैं फेंक दूँ, यह भी सम्भव नहीं है मेरे लिये और इसे साथ ले जाऊँ, यह भी सर्वथा असम्भव है। इसे फेंक भी नहीं सकती, साथ भी नहीं ले जा सकती—कैसी उलझन है मेरे लिये ? देखो, मैंने इसमें और तुममें कभी भेदका अनुभव किया ही नहीं क्योंकि यह माला तुम्हारे उरःस्थलसे जुड़ी रही है। मैंने देखा है, प्रत्यक्ष देख रही हूँ—इसके कण-कणमें तुम विराजित हो रहे हो। अथवा और भी सुस्पष्ट कहूँ तो कह सकती हूँ—तुम्हीं, तुम्हीं यह माला बनकर मुझसे खेल रहे हो।

"मेरी परिस्थितिको सोचकर देखो, तब न ! मैं क्या सोच रही हूँ, इसपर तो विचार करो। मेरी बुद्धिका अध्यवसाय विलुप्त हो चुका है और इसीलिए रह-रहकर सोचने लग जाती हूँ—'कहीं इन सहचरियोंकी ही उक्ति सत्य हो, तुम सचमुच ही चले गये हो, तो, तो, तो क्या होगा ?' यही होगा कि तुम अवश्य, अवश्य अवश्य लौटोगे और यहाँ आकर यदि यह देखोगे—इस मालाको, हाय रे ! जिसे मैंने प्राणेश्वरी माना था, अनुभव किया था, उसीने अपने हाथोंसे फेंक दिया है—उस हारको फेंक दिया, जिसके रूपमें मैं स्वयं ही मूर्त हूँ ! सोचो तो सही, तुम कितने व्याकुल होओगे, प्रियतम ! इस प्रकारकी अनुभूति करके।

"...हाय रे ! यदि इतनी ही बात होती कि तुम अन्यमनस्क होकर उस स्थितिमें ऐसा सोच लेते—'अरे ! वह पगली थी ! भोली थी !! दीना थी !!!' और ऐसी ही कोई उक्ति तुम्हारे मुखसे निःसृत हो जाती और तुम उल्टे पाँव लौट जाते अपने देशमें—ऐसी सम्भावना होती, मुझे निश्चय होता कि वे मेरे प्राणनाथ ऐसे ही कर लेंगे, तब तो हे मेरे जीवनसर्वस्व ! मुझे इसकी चिन्ता न होती और मैं कबकी चली गयी होती। किंतु मैं, मैं निरन्तर अनुभव कर रही हूँ—उस स्थितिमें तुम्हारा क्रन्दन इतना भीषण होगा, इतना प्रयलंकर होगा कि तुम्हारे क्रन्दनसे इस व्योमका हृदय भी विदीर्ण हो जायेगा।

"...प्राणरमण ! कल्पना करो—धूलमें सनी हुई माला मुरझायी हुई आकृतिसे धरापर चेतना-शून्य-सी पड़ी तुमसे कहीं संकेत कर बैठी—'व्रजके देवता ! चली गयी वह, वह चली गयी' और इस प्रकार मेरे बिदा हो जानेकी वृत्तिने तुम्हें स्पर्श कर लिया और तुम सोच बैठे—'हाय रे ! अब मेरे प्राणोंकी रानी मानिनी होकर कहीं इन कुञ्जोंमें छिपकर नहीं बैठी है—अब तो दूर-दूर, अत्यन्त दूर, एकाकिनी चली गयी है, ओह ! उस ओर, जिस ओर, जिस ओर जाकर कभी कोई लौटी ही नहीं, लौटा ही नहीं, इतिहासके पन्नोंमें, इतिवृत्तके चित्रोंमें कहीं इस प्रकारकी कोई गन्ध किसीको अबतक मिली ही नहीं कि कोई भी उस ओरसे लौटी हो, लौटा हो—उस समय तुम, तुम क्या यहाँ आवास-निर्माण करनेके लिये, बसनेके लिये, जीवित रहोगे, प्राणरमण ! —अरे, चुप, चुप, चुप। इस महाप्रलयकी कल्पनाको भी भ्रमसे भी मैं अपने चित्तमें नहीं आने दूँगी, आने नहीं दूँगी, नहीं आने दूँगी।

फटी आँखोंसे भानुकिशोरी निरावरण आकाशकी ओर देखने लग जाती हैं। और फिर कुछ ही क्षणोंके अनन्तर हास्यकी एक उन्मादभरी रेखा स्फुट रूपमें उनके

होठोंपर व्यक्त हो उठती है ! बायें-दाहिने, ऊपर-नीचे देखती हैं। पलकें स्पन्दित होती हैं और फिर कुछ बड़-बड़-सी करने लगती हैं। स्वर स्पष्ट सुन नहीं पड़ता। फिर ताली पीटकर अचानक बोल उठती हैं—"अच्छा ! तुम उपदेश देने आये हो ? नहीं-नहीं, जिज्ञासाकी मुद्रा है तुम्हारे मुखपर तो ! तो, कोई तो नहीं है यहाँ ! तब किसने यह प्रश्न पूछा मुझसे ? किसीने पूछा होगा, क्यों, यही तो पूछ रहे हो तुम ?—'क्यों री, भोली ? इस मालाको साथ क्यों नहीं ले जाती ? इतना ऊहापोह तुम्हारे चित्तमें क्यों ?'—यही तो जानना चाहते हो ? तो सुनो, सुनो—जो भी हो, ऐसे जो पूछती है या पूछता है, उससे कह रही हूँ, भला ! क्षमा करना, क्षमा कर दे वह मुझे। वास्तवमें ऐसा कहनेवाली, ऐसा कहनेवाला जानती ही नहीं, जानता ही नहीं कि रसकी रीति क्या होती है ! अरे ! उसने कभी देखा ही नहीं प्राणनाथ ! कभी उसकी आँखोंमें यह अभिव्यक्ति हुई ही नहीं कि राकाकी रजनीमें मेरा और तुम्हारा निरावरण मिलन कैसा होता है, कैसा होता है, कैसा होता है ....

"इसलिये जो, जैसी सलाह देना चाहे, दे दे, सुन लूँगी।"

विरक्त-सी हुई किशोरी किंचित् रूखी-सी होकर बोल उठती हैं अब—"छोड़ो, क्या करना है ! तो, प्राणनाथ ! मैं तो तुमसे बात कर रही थी। क्या-से-क्या बोल जाती हूँ ! कोई तो नहीं है, तुम्हीं तो हो। तो मैं क्या कह रही थी ? अच्छा तो, जबतक इस मालाको तुमने अपनी ग्रीवामें झुला रखा था, अहा ! तबतक इसके सभी कुसुम सर्वथा अविकृत थे, अविकृत थे। और कैसी आवरणहीन हँसी इनके होंठोंपर थी प्राणरमण ! देखो, बड़ी भूल की तुमने ! तुमने इस मालाको, अपनी इस दासी मुझे, मुझ राधाको पहना दिया—बड़ी भूल की। परिणाम क्या हुआ, स्पष्ट देख लो ! मैं जैसी थी, उसके अनुरूप ही मेरी छाया सृष्ट हुई, उनपर पड़ी और ये सुमन उसी साँचेमें ढल गये...।

"जो निरन्तर तुम्हें देख रहे थे, वे दुर्दैववश प्रतिबिम्बगृहीत हो गये। हाय रे ! उन्हें प्रतिबिम्ब अधिक प्रिय लगने लगा, अधिक आकर्षित करने लगा। और इस प्रकार उन्हें, उन सुमनोंको अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी। अभिमानमें, निमग्न सुनते हो, सुनते हो, प्राणनाथ ? अभिमानमें भरी मैं तुमसे अपने इस महामलिन नश्वर शरीरका आराधन करवाती थी, और इसीलिये मेरा यह दोष इनमें भी संक्रमित हो गया; बस, बस, वज्र, गिर जाय मेरे अस्तित्वपर...।"

किशोरी उन्मादिनीकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगती हैं और कुछ क्षणोंके अनन्तर फिर कहती हैं—'अच्छा, अच्छा ! अब, अब उसी नीले उरःस्थलपर इस

मालाको मैं झुला दूंगी—बस, यही, यही करना है मुझे। ये सुमन तुमसे मिलकर—तब, तब, तब...।"

भानुकिशोरीके अधरोंपर उन्मादकी उल्लासकी, और आगे, आगे भावात्मक महाप्रलयकी रेखा व्यक्त होती है उन्मुक्त हँसीके रूपमें। वे बारम्बार 'तब', 'तब', 'तब', 'तब', 'तब', 'तब', 'तब', की आवृत्ति कर रही हैं—पाँच-दस पलों तक निरन्तर..।

पुन: एक अचिन्त्य शक्तिकी प्रेरणासे वही पूर्वकी वाक्यावली फूट पड़ती है—"हाँ-हाँ, तो ये सुमन तुमसे मिलकर तभी, तभी तुमको और मुझे पहचान पायेंगे—और उस धागेको, नीले धागेको, जिसमें ये नित्य पिरोये हुए हैं। उस समय तुम्हारा आनन्दोदधि कितना, कैसा उद्वेलित होगा, प्राणनाथ! सोचो तो सही, उसीमें हम दोनोंकी आँखोंसे आनन्दकी धारा कैसी बह चलेगी और फिर कैसे हम दोनों हँसेंगे! सोचो, सोचो उस अग्रिम दृश्यको; देखो, देखो उस महान आनन्द-क्रन्दनको। और महान् आनन्दके हास्यको। फिर हम दोनोंके अग्रिम नवीन रङ्गमञ्चका निर्माण होगा, नवीन क्रीड़ा-विलासकी लहरियोंमें हम दोनों संतरण करेंगे, अभिनव अप्रतिम सुन्दर खेल होगा वह—।" किशोरी पुन: उन्मत्त हँसी हँसने लगती है।......

नीलसुन्दर सर्वथा मानो उनके समक्ष खड़े हैं—इस अनुभूतिमें तन्मय हुई किशोरी अपनी आँखें बन्द कर लेती हैं—सचमुच उन्हें अनुभव हो रहा है कि 'एक नीलसुन्दर तो मेरे हृत्सरोजपर विराजित हैं और एक मेरे समक्ष अधरोंपर मन्द स्मित लिये। आठ-दस पलतक नीरवताके राज्यमें डूबी रहकर किशोरी पुन: अत्यन्त गम्भीर मुद्रामें कह उठती है किंतु, किंतु इस वनमें नहीं, भला! उधर आगे, आगे, आगे-से-आगे चलना है, प्रियतम! वहाँ, वहाँ, जहाँ वह नित्य नीलरसोदधि गम्भीर, गम्भीरतर होता चला जा रहा है। अहा,—एक-से-एक ऊँची ऊर्मि उठती है और उस नीले सागरमें विलीन हो जाती है। अनादि हैं, अनन्त हैं वे ऊर्मियाँ। उसमें, उसमें, उस नीले समुद्रमें, उस नीले समुद्रमें हम दोनोंकी क्रीड़ा होगी, प्राणवल्लभ!..."

सुन्दरी सरोवर पुन: एक अट्टहाससे गूंज उठता है और किशोरी तमाल द्रुमकी उस शाखाको छोड़कर आगेकी ओर चल पड़ती हैं। किंतु कुछ ही दूर जाकर फिर मुड़ जाती हैं पीछेकी ओर और हँसती-हँसती कहने लगती हैं—"तुम सचमुच प्राणनाथ हो? नहीं, नहीं, वह तो मयूर बैठा है..! किशोरी अपने दोनों हाथोंसे माथा पीटकर

अपनी उक्तिकी परिसमाप्ति करती हैं इन शब्दोंमें—"प्राणनाथ नहीं है, मयूर नहीं है, मेरी बुद्धि बिगड़ी हुई है। यह तो भौंरा बैठा हुआ है।...

"अहा ! गम्भीर मुद्रामें जैसे वे सोचते थे, मेरे प्राणनाथ किसी बातका विचार करते थे, वैसे ही यह भौंरा भी सोच रहा है। इसका रंग-ढंग भी प्रायः उन्हींसे, सबकुछ उन्हींसे मिलता-जुलता है। पर इतना म्लान यह भ्रमर क्यों है ? हाय ! इस समय मेरे सामने इसके मुखपर ऐसी म्लानता क्यों ? ओहो ! अब समझी बहुत सम्भव है, मुझ उन्मादिनीके अनर्गल प्रलापको सुनकर यह खिन्न हो गया है।"

आँखें गड़ाकर किशोरी दूतकी ओर देख रही है—दो-तीन पलोंतक निर्निमेष नयनोंसे देखती रहती हैं और फिर आकुल मुद्रामें कह उठती हैं—"हाय रे ! हाय रे !! मैं देख न सकी—भौंरा तो रो रहा है, इसकी आँखें अनर्गल अश्रु-प्रवाहका उद्गम बनी हुई हैं ··। अहा ! प्यारे भौंरे तुम रोओ मत, मत, मत रोओ। क्या व्यथा है तुम्हें ? सबकुछ, अपने मनकी सब बातें मुझे बता दो ! जो कुछ भी तुम्हारे मनमें हो, निरावरण—बिना किसी संकोचके मेरे सामने प्रकट कर दो ! देखो ! मैं उनकी—नीलसुन्दरकी दासी हूँ; अत्यन्त, अत्यन्त प्यारी दासी हूँ, तुम जो चाहोगे, वही वस्तु मैं तुमको दे दूँगी...।"

किशोरीका स्वर क्रमशः धीमा होता चला जाता है, पर वे अविराम बोलती चली जा रही हैं—"देखो, मेरे प्राणनाथका कोष, मेरे नीलदेवताका कोष, मेरे आराध्यदेवका कोष अप्रतिम है—नित्य, सर्वथा, सर्वांशमें अतुल है और अक्षय है; निस्सीम है वह कोष। किंतु उस कोषकी स्वामिनी मैं ही हूँ, भला ! सर्वथा, सर्वांशमें उस कोषपर मेरा ही आधिपत्य है— सच मानना रे भौंरे ! तुम प्रत्यक्ष देख लो, देखते हो उज्ज्वल तारोंकी इस कुञ्जीको ; यह उसी कोषकी कुञ्जी है और मेरे प्राणाधिकने स्वयं अपने हाथोंसे मेरे अञ्चलमें इसको सदाके लिये बाँध रखा है। जिस समय—न जाने कबकी बात है—युग-युगान्तरसे असंख्य युग-युगान्तका कालमान तबसे व्यतीत हो गया, भला—जिस समय, जिस क्षण वे इसे बाँध रहे थे—अपने कर-सरोजसे बाँध रहे थे, कैसी रसमयी अनाविल हँसी उनके अधरोंपर व्यक्त थी, तुम्हें कैसे बताऊँ, भौंरा !...

"इसीलिये तुम्हें मैं असम्भव वस्तु भी दे दूँगी, तुम्हारे लिये सर्वथा असम्भवको भी सम्भव बना दूँगी। तुम विश्वास करो, उनकी यह दासी सत्य ही कहती है। मिथ्या आश्वासन मैं देना जानती ही नहीं, रे भौंरा ! रे भौंरा !! जो हो, ऐसा क्यों हुआ ? तुमपर इतना क्यों रीझ गयी, बताऊँ ? अच्छा, देखो, आँखोंकी बूँदोंका मूल्य

देना बड़ा ही कठिन होता है— ये अनमोल होते हैं, इनका प्रतिदान होता ही नहीं और तुम्हारी आँखोंसे वे ही बूँदें झर रही हैं। हाँ, कोई बिरला ही नयनोंकी बूँदोंका सुगुप्त रहस्य जान पाता है, इस अनमोल निधिकी महिमासे परिचित होता और वह अपने दृगोंसे इन्हें बाहर लाकर इन्हें खो बैठनेकी भूल कभी नहीं करता। अपने-आप शरीरकी विस्मृति होकर जब ये पलकोंकी ओटसे झर पड़ती हैं, तब स्वयं दौड़ पड़ती हूँ इनकी ओर। एक-एक बूँदका चयन कर लेती हूँ, कहीं भी देख मैं इन बूँदोंको—ऐसा ही मेरा स्वभाव है। इतना ही नहीं, मैं तत्क्षण इन बूँदोंसे एक अभिनव सुन्दर हारका निर्माण कर लेती हूँ—और मेरे प्राणवल्लभ नीलसुन्दरके उरःस्थलपर बूँदोंसे बने उस हारको स्थापित कर देती हूँ। इतने उल्लसित हो उठते हैं मेरे प्राणनाथ कि मुझे परिरम्भणके बन्धनमें बाँध लेते हैं और फिर क्षण बीतते-न-बीतते इस हारको मेरी ग्रीवामें झुला देते हैं। उस समय उनके करतलपर मेरा मस्तक अपने-आप झुक जाता है, प्रतिष्ठित हो जाता है। मैं विह्वल होकर रोने लगती हूँ। उस समय हम दोनोंके उस हँसने और रोनेका सुख केवल अनिर्वचनीय ही नहीं, वस्तुतः अचिन्त्य होता है। कौन समझ सकता है उस सुखकी गरिमाको ? कहना भी किससे क्या है ?

"इसलिये हे मिलिन्द ! आ ! हा ! हा ! हा ! कहो, बोलो —तुमने मुझे यह अनुपम भेंट जो दी है, यह भेंट देकर तुम मुझसे क्या लेना चाहते हो, क्या अभिलाषा है तुम्हारे चित्तमें ? देखो सही, मैं सबकुछ लिये यहीं तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। तुझे सच कहती हूँ—लेनेकी अपेक्षा निरन्तर देते रहनेमें ही अत्यधिक सुखका अनुभव होता है। केवल मेरा ही नहीं, भौंरा रे ! मेरे प्रियतम नीलसुन्दरका स्वभाव भी ऐसा ही है। उनका, मेरा—दोनोंका ही स्वभाव चिरकालसे एक-सा ही है, भँवर' !'

सहसा भानुकिशोरीकी वाणी रुद्ध हो गयी। लज्जाका घन आवरण उनके श्रीअङ्गोंपर चारों ओर अभिव्यक्त हो गया ; झुकी जा रही हैं भानुकिशोरी उसके भारसे। उन्हें प्रतीति हो रही थी—जो बात न कहनेकी थी, वह उनके मुखसे बरबस निःसृत हो गयी। पर अब क्या हो...

क्षणभरके लिये उनकी आँखें निमीलित हुईं और जब खुलीं, तब वे किंचित् सावधानीकी मुद्रासे भावित रहकर ही कहने लग जाती हैं—"भ्रमर ! तू सावधान रहना भला ! मेरे अङ्गोंकी महामलिन छायासे भी बचते रहना—भ्रमसे भी तू इसे मत छूना, रे ! हाय ! मैं कैसी हूँ—तुम्हें पता नहीं है। सच यह है, मुझे अपनी प्रशंसा

बड़ी प्यारी लगती है और इसीलिये मैं स्वयं तुमसे केवल, केवल अपनी ही सुख्याति करती रही हूँ। तुम अत्यन्त निर्मल मति हो, मिलिन्द ! और इस कारण तुमने मेरी बातोंपर ज्यों-का-त्यों विश्वास किया है। मुझ ठगिनीकी ठगभरी सरलतासे तुम प्रभावित हो उठे और मेरे चरणोंके स्पर्शके लिये तुम अभी-अभी मेरी ओर दौड़े आ रहे थे —मुझ महामलिना अधमाके चरणोंको छूने दौड़ पड़े थे।

"तुम्हें सत्य, सत्य बतला दे रही हूँ, नीलसुन्दर प्राणनाथ प्रियतममें और मुझमें कितना अन्तर है। एक ओर उछलता हुआ सुधा-सिन्धु, और दूसरी ओर एक छिल्लर की मलिन, अत्यन्त दुर्गन्धसे परिपूरित (गढ़ैयाके) जलकी कणिका। एक ओर दिनकर और चन्द्रका किरण-दान, दूसरी ओर खद्योतके उड़ते समय उसके भुक्-भुक्से निःसृत प्रकाशका कण। एक ओर चिन्तामणि, दूसरी ओर मलसे सने टूटे काँचका एक मलिन खण्ड। इनमें परस्पर कितना अन्तर है, भ्रमर ! वैसे-के-वैसे मेरे प्राणवल्लभ नीलसुन्दरके शीलमें और मेरे शीलमें पृथक्त्व निरन्तर प्रत्यक्ष प्रतिभासित मिलेगा तुमको। मेरे जीवनका कण-कण अभिलाषाओंके हाहाकारसे परिपूरित है, मैं निरन्तर उनसे माँगती ही रही—कुछ-न-कुछ माँगती ही रही हूँ। लेती-लेती निरन्तर लेते रहनेपर भी मैं कभी श्रमित नहीं हुई, और निरन्तर देते रहने पर भी वे श्रमित न हुए। इतनेपर भी सदा मैं उपालम्भ देती रही हूँ—'मुझे तुमसे क्या मिला ?' और उस ओर मेरे इस व्यंग्यके उत्तरमें वे सदा यही बोलते आये हैं—'प्राणोंकी रानी ! मैं तुम्हें कुछ भी दे न सका।' मैं निरन्तर यही गर्व लिये रहती थी कि मैं प्रियतम नीलसुन्दरके लिये सबकुछ स्वाहा करके ही जीवनधारण कर रही हूँ। और सदा ही गद्‌गद कण्ठसे वे यही कहते थे –'अहा ! मैं प्राणेश्वरी राधाके चरणसरोरुहमें हाय रे ! न्योछावर नहीं हुआ; धिक्कार है मुझे, शत-सहस्र धिक्कार है मेरे जीवनको।'

"देखो सही, इस परिस्थतिमें मैं अधमा, लज्जाहीना, अपने प्राणवल्लभसे, नीलसुन्दरसे समता करने चली थी अपने शीलगुणकी, अन्य गुणोंकी। रसविद् मधुकर रे ! मेरे द्वारा महान् अपराधका ही सृजन हुआ मेरी इस चेष्टासे क्यों नहीं होता ? ऐसा होता ही ! क्योंकि मैं सदासे दम्भ ही करती आयी हूँ। अब भी दम्भसे भरा ही मेरा जीवन है। क्षणभरके लिये स्वप्नमें भी मैं प्राणनाथ नीलसुन्दरको अपने अनाविल प्यारका एक कण भी न दे पायी।"

भानुकिशोरी फूट-फूटकर रो रही हैं—और 'साँवर-साँवर' का स्वर निःसृत हो रहा है अधरपुटोंके अन्तरालसे। कभी अस्फुट स्वरमें यह भी कह उठती हैं—साँवर, साँवर प्रियतम हे ! तुम मुझे एक वरदान दे दो—मेरे द्वारा किसीका कभी

अपमान न हो । पर कैसे करूँ, प्राणवल्लभ साँवर ! तुम्हीं बताओ, इस भौंरेको मैं अपने चरण कैसे छूने दूँ? तुम्हें स्मरण है—रसमत्त हुए तुमने अपनी कुञ्चित अलकोंसे मेरे इन चरणोंको पोंछा था उस दिन, उस दिन, उस दिन। हाय रे ! उन्हीं अपने चरणोंको मैं भौंरेको कैसे छूने दूँ ? पर भ्रमरका अपमान भी न हो, यह कैसे सम्भव है ? कैसी असमंजसकी स्थिति है मेरी ।"

अनर्गल अश्रु-प्रवाहसे अपने कपोलोंको सिक्त करती हुई किशोरी अविराम भावसे कहती जा रही हैं—" भौंरे ! प्यारे मिलिन्द ! सुनो—मेरे साथ घटित घटनाको मैं ज्यों-की-त्यों सुना दे रही हूँ तुमको । उस दिन प्रतिपदा की तिथि थी । अभी-अभी अपनी किरणोंको समेटकर दिनकर क्षितिजके उस पार गये ही थे—कलिन्द-नन्दिनीका प्रवाह हम दोनोंके सम्मुख हिलोरें ले रहा था। मैं प्रत्यक्ष सचमुच सुन रही थी रे ! भौंरा—सरिताकी लहरें मुझसे प्रार्थना कर रही थीं, माँग रही थीं 'निकुञ्जेश्वरी राधे ! किंचित् और यहाँ तुम दोनों ठहर जाओ और मुझे दर्शनका सुखदान करो।..."

सहस किशोरी भूल गयीं कि मैं भौंरेसे बात कर रही हूँ और प्रत्यक्ष अनुभूतिके जालमें पड़कर ठीक-ठीक देखने लग गयीं—'सामने मेरे प्राणनाथ नीलसुन्दर खड़े हैं और मैं तो उनसे ही बात कर रही हूँ'—इस भावनामें डूबी हुई वे अविराम बोलती चली जा रही हैं . ।

"सुनते हो, प्राणवल्लभ ! ठीक - ठीक स्मरण कर लो प्रतिपदाकी उस संध्या-वेलाको । श्यामा कल्लोलिनीकी लहरें मुझसे कह रहीं थीं—'ठहरो !' पर तुम कहते थे मुझसे—'प्रियतमे ! चलो, चलो। तिमिरसे परिपूरित यह रजनी है । सम्मुखका कान्तार भी अत्यन्त गहन है । बड़ी ही घोर है यह अटवी और यहाँसे उस ओरका पथ भी बड़ा बङ्किम है ।—और मैं असमंजसमें पड़ी हुई थी, प्राणाधिक ! 'कैसे करूँ, क्या करूँ ?' तुममें तो अत्यधिक त्वरा भरी थी ; बड़ी शीघ्रता थी मुझे यहाँसे वहाँ ले जानेकी,—और मनुहारभरी आँखोंसे लहरें बूँदें उछाल-उछालकर बाध्य कर रही थीं मुझे वहीं ठहरे रहनेके लिए । मैं उनकी विनती अनसुनी कर दूँ या किंचित् और ठहर जाऊँ -यह प्रश्न था मेरे सामने । तुम हँस रहे थे, पर मैं चिन्तामें पड़ी थी । कुछ देर रुककर मैं तुमसे बोल उठी थी—'प्रियतम ! तुम बड़ी शीघ्रता करते हो ! इतनी जल्दीकी आवश्यकता क्या है ? और सच तो यह है कि तुम मुझे ठग रहे हो, मुझसे मिथ्या कह रहे हो । देखो ! यह तो शुक्ला रजनी है ।' मैं उस क्षण भूल गयी थी, प्रियतम ! कि वस्तुत: तिथि तो भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदाकी है । और मैं तुमसे कह रही थी कि यह

अब किशोरी अपना दक्षिण कर-सरोज आगे बढ़ाकर इस प्रकारकी मुद्राका प्रदर्शन कर बैठीं मानो वे अपने प्राणनाथ नीलसुन्दरके कर-सरोजको स्पन्दित कर रहीं हों, उन्हें सावधान कर रही हों। साथ ही अधरोंपर यह मधुस्यन्दी स्वर एक अभिनव उल्लासकी गरिमा लेकर व्यक्त हो रहा था—"तो मैंने तुम्हें कहा था—जल्दी क्या करना है ? शुक्ल पक्षकी निशा है यह। देखो, प्राचीमें शशधर, बस,आनेवाला ही है। और क्या है ? वह आये, मत आये, मुझे तो तुम्हारा यह श्यामल मुख ही निरन्तर प्रकाश देता ही रहेगा। जब तुम निरन्तर मेरे साथ हो, तब मुझे इस वनका क्या भय है, प्राणनाथ ! रससे परिपूरित मीठी-मीठी बातें तुम मुझे सुनाते रहना और हँस-हँसकर मुझे गलबाहीं दिये, हाँ, हाँ, हाँ, हाँ, मेरी ग्रीवामें यह अपना वाम मृदुल कर-सरोज डाले हँस-हँसकर आगे चलते रहना। यहाँ एक वनदेवी रहती है, वह हम दोनोंके लिए नवीन सुन्दर-से-सुन्दर पथका निर्माण कर देगी और यहाँसे सीधे, सीधे,, सीधे चलकर हम दोनों अपने निकुञ्ज-गृहमें पहुँच ही जायेंगे।"

पुनः अविराम हँसने लग जाती हैं किशोरी, सर्वथा उन्मादिनीकी भाँति। फिर मानों एकबार प्रियतम नीलसुन्दरके दक्षिण कर-सरोजको झकझोर दे रही हों, इस मुद्रामें अपने बाँयें हाथको चञ्चल करके कहने लगती हैं—"तो क्या प्रतिक्रिया हुई थी मेरी उक्तियोंकी तुमपर ? अरे रे, तुम कितने चतुर हो, प्रियतम ! तुम्हें तो मुझे ले चलनेकी त्वरा थी ही और कैसी मुद्रा बनायी थी तुमने उस समय। सर्वथा भय-विजड़ित मुद्रामें तुम मुझे निहारते हुए कह रहे थे—'मेरे प्राणोंकी रानी ! हे ! अरे राम ! एक बड़ा ही भयंकर सर्प यहाँ रहता है—यहीं तो, जहाँ हम दोनों अभी खड़े हैं इस समय, बस, इसी धराके ऊपरके व्योममें रहता है, भला,—पर छिपकर रहता है, अथवा इस धरामें ही धँसकर रहता है, धरामें समाया रहता है। कोई निर्णीत स्थान नहीं है उसका। इतना मायावी है वह उरग कि जिसकी मायाको कोई विरला ही जीते तो जीत सकता है, और देखो प्राणेश्वरी ! संयोगकी बात ; उस मायावी सर्पके पानी पीनेका यही समय है और यहीं इसी घाटपर पानी पीता है वह। कितना भयंकर है वह—तुमसे बतला देता हूँ। उसकी छाया पड़ते ही बेहोशी आ जाती है और ऐसी बेहोशी कि शत-सहस्र हकीम-वैद्य हार जायँ, पर वह बेहोशी दूर होनेकी नहीं। इसीलिये प्राणाधिके ! उसके यहाँ आनेके पहले ही हमलोग इस प्रवाहसे दूर चले जायँ, कलिन्द-नन्दिनीके प्रवाहसे दूर चले जायँ। लहरियोंका खेल तो कभी किसी अन्य दिन देख लेंगे। क्यों व्यर्थका इतना भयंकर, इतना विकट संघर्ष इस सर्पसे हम लेने चलें। और बिल्कुल सत्य है, कहीं वह आ गया और तुम्हें डसनेके लिए दौड़ा तो तुम तो डर जाओगी—भागेंगे कैसे ?····' आ हा हा। प्राणनाथ ! कैसी चतुराई थी तुम्हारी ?

पर मैं तो सदाकी हठीली ही ठहरी। हँसने लग गयी थी मैं तुम्हारी बात सुनकर और बोली थी—'अच्छा, मैं भी देखना चाहती हूँ प्रियतम ! कि आखिरमें वह सर्प तो कैसा है। मुझे तो केवल इतना ही बतला दो—वह प्राचीकी ओरसे आयेगा या प्रतीचीकी ओरसे, उत्तरकी ओरसे या दक्षिणकी ओरसे ? धरा-भेदन करके आयेगा अथवा व्योमपथसे ? आयेगा यदि वह तो अपनी तृषा शान्त करने आयेगा या हमारा सुख-अपहरण करने आयेगा ?' और इतना कहकर मैं हँस रही थी और वहीं बैठ भी गयी थी। तुम खड़े-खड़े हँस रहे थे।

"दो पलोंके अनन्तर तुम्हारी बङ्किम चितवन उत्तरकी धराकी ओर केन्द्रित हुई और मुझे एक स्थल विशेषकी ओर संकेत कर तुम बोले थे—'जीवनेश्वरी ! देखो यह धरा कुछ फटती-सी दीख रही है। सम्भव है, इसी पथसे आ जाय।' तुम्हारी उक्ति पूरी भी न हो पायी थी कि सचमुच एक अतिशय महाकाय कृष्णवर्ण विषधर फण काढ़े धराके उस छिद्रसे बाहर निकल आया। अरे ! मैं तो डरकर तुमसे चिपट गयी थी। कितना भयंकर वह सर्प था, पर तुम तत्क्षण कह उठे थे—'प्राणेश्वरी ! बिलकुल भय मत करो। मेरे प्राणोंकी रानीकी छायाको भी यह नहीं छू सकता, तुम्हें तो क्या छू सकेगा। किन्तु प्रियतमे ! यहाँ तुम चञ्चलतासे विरत हो जाना ; कोई-सी चपलता मत कर बैठना ; देखो, मेरा रंग भी काला और यह सर्प भी पूरा काला-कलूटा है। इस सर्पके मनमें यह बात आ गयी है, मेरे लिए कि मैं उसका प्रतिपक्षी हूँ —ऐसा ही सोच रहा है यह कपटी—और इसलिए मुझसे डर रहा है। देखो, प्राणेश्वरी ! जो स्वयं काला और टेढ़ा होता है, उसे काले और टेढ़ेसे ही भय होता है। और देखो ! तुम तो गौरवर्णा हो और अत्यन्त सरला भी हो ; इसको तुमसे भय बिलकुल नहीं लगेगा, अतः तुम तो बस, मुझसे सम्बद्ध रहना। तनिक भी हटना मत, भला !'

"प्राणरमण ! जलसे पूरित तुम्हारे उन नयन-सरोजोंको मैं भूल नहीं पाती, जिस समय तुम मुझे 'गोरी', 'सरला' सम्बोधित करके एकटक निहार रहे थे। प्राण-वल्लभ ! प्राणोंके ऐसे संवेदन ही मेरी एकमात्र निधि हैं—कैसे, कैसे हैं वे, कितने सुन्दर वे हैं, कैसे तुम्हें बताऊँ ? जो हो, सुनो, प्रियतम ! मैं अपलक होकर उस अहिको निहार रही थी, किंतु ओह ! सहसा मुझे अनुभूति हुई, ऐसी प्रतीति मुझे होने लगी कि उसके उस विकराल मुखमें तुम ही, मेरे प्राणनाथ नीलसुन्दर ही विराजित हो रहे हो। इतना ही नहीं, प्राणाधिक ! तुम्हारे अधर-पल्लवोंपर जो यह चिर-परिचित स्मित निरन्तर विराजित रहता है, वह भी मुझे उस सर्पके मुखमें अवस्थित श्रीविग्रहके अधरोंपर ज्यों-

का-त्यों निलीन-सा आभास हो रहा था, मानो वह अभी-अभी—तुरंत विकसित हो उठेगा। मेरी आँख वहाँ केन्द्रित हुई ही थी कि दूसरे ही क्षण उस भुजंगकी आँखोंमें, काली परछाहीं-सी, तुम्हारे इन त्रिभंग अङ्गोंकी मुद्राके दर्शन होने लगे।

"कैसी अप्रतिम सुन्दर सलोनी मुद्रा थी प्राणवल्लभ ! तुम्हारी उस भुजङ्गमकी आँखोंमें। और अब दो-पल बीतते-न-बीतते विषधरके अङ्गोंके कण-कणमें ही, उसके सम्पूर्ण अवयवोंमें ही एकमात्र तुम्हीं, नीलसुन्दर ही, मेरे प्राणनाथ ही अभिव्यक्त हो उठे। मेरी आँखोंमें चञ्चल तुम्हीं, तुम्हीं वहाँ झलमल करते दीख रहे थे।

"आश्चर्यमें डूबी हुई थी कि यह कैसे, क्यों संघटित हुआ। एक क्षणमें तुम्हें निहारती और दूसरे क्षण मेरी आँखें उस भुजंगपर केन्द्रित होती। और उस महा उरगके हृद्देशमें तो तुम प्रत्यक्ष यों-के-यों खड़े दीख रहे थे। मैं सोचने लग गयी थी कि 'यह अनुभूति सत्य है अथवा कोई अद्‌भुत स्वप्न तो मैं नहीं देख रही हूँ।'······

"इतनेमें तुम्हारा मधुमय स्वर मेरे कानोंमें पड़ा। तुम मुझे कह रहे थे, 'मेरे असंख्य प्राणोंके प्राण ! देखो, क्रीड़ा तो हँस-हँसकर देख लो, भला ! पर आगे मत बढ़ जाना, सर्पकी ओर एक पद भी अग्रसर न हो जाना। क्या पता यह दुर्दमन महासर्प झपट पड़े और अपने विषमय दो दाँतोंसे तुम्हें डस ले। हाय रे ! फिर मेरे जीवनका क्या होगा ? तनिक अनुमान लगा लो सही उस विषम परिस्थितिका।' मैं तो सर्वथा विमूढ़ हो गयी थी, प्रियतम ! मेरे लिये यह भूल-भुलैयाका-सा खेल बन गया था। आखिर मैंने तुमसे सारी बात बतला दी—जो भी, जैसे मुझे अनुभव हो रहा था उस महा भुजंगमके तनमें। तुम हँस पड़े थे और तुमने कहा था—"प्रियतमे ! तुमने मेरे ऊपर अपार करुणा की है, तुम मुझे अपनी दृगपुतरियोंमें ही निरन्तर निवास दिये रहती हो। इसीका परिणाम है कि तुम्हें महासर्पके स्थानपर मैं अनुभूत हो रहा हूँ, किंतु प्राणवल्लभे ! अब तो शीघ्र-से-शीघ्र हमलोग भाग चलें। अरे ! यह विषधर तो मेरे समान बली बन गया है। तुमने इसपर अपनी आँखें डाल दीं, इसके कण-कणमें मुझको परिपूरित कर दिया। मेरा सम्पूर्ण बल उसमें चला गया और अब यह विषधर अत्यन्त दुर्धर्ष हो गया है। अतएव प्राणाधिके ! बस, चलो, अविलम्ब यहाँसे चलें। मेरी बात मान लो, प्राणवल्लभे ! इतना बलवान बन गया है यह सर्प कि यदि यह हम दोनोंपर पीछेसे टूट पड़े तो मैं इसका कर ही क्या लूंगा ? बड़ी भारी भूल तुमने कर दी। बस, अब तो एक ही उपाय बचा है !—मैं तुम्हें अंकमें उठा लूं और फिर इतनी तीव्र गतिसे भागूं कि यह हम दोनोंको छू ही न सके।' बस ! प्राणवल्लभ ! मैं सुन तो

रही थी तुम्हारी बातोंको बड़े ध्यानसे, किंतु अब एक नवीन चिंताने मुझे आ घरा। मैं सोचने लगी—'कदाचित यह महाविषधर फिर भी हम दोनोंका पिंड न छोड़े और दुर्दैववश कहीं इसके दौड़नेकी गति तुम्हारी अपेक्षा अधिक तेज हो जाय और उस परिस्थितिमें यह तुम्हारी नीली पीठपर क्षत लगा दे, तुम्हें काट खाय—धीरेसे ही काट ले, मायावी जो ठहरा, यह कोई-सी माया रच दे, तब मैं तो इन बातोंको जान नहीं पाऊँगी और तुम मुझे बतानेसे रहे कि तुम्हें सर्पने काट खाया है..... ।"

"मैं इस प्रकार बहुतसे उपायोंके चिन्तनमें डूब-सी गयी, बहुत-सी बातें सोच रही थी। इतनेमें ही मेरे कानोंमें भयंकर फुफकारकी ध्वनि आयी और मैं सिहर उठी। साथ ही तुम तुरंत बोल उठे—'ओहो ! ओहो !! प्राणवल्लभे !! अब तो इसका रोष मेरे ही प्रति हो गया, भला ! तुमने कुछ देर कर दी, अब तो इसके साथ भिड़ना ही पड़ेगा। इससे युद्ध लेना ही होगा मुझे।···"

"तुम यह कहते जा रहे थे और अपने दुकूलको कटिमें कसते जा रहे थे, साथ ही तुम्हारे अधरोंपर एक अभिनव हास्य भी था। उस समय अचानक मेरे मनमें आया—'देखूँ सही, इस सर्पमें आखिर कितना बल है, मैं अबला अवश्य हूँ, किंतु मेरे भीतर-बाहर तुम तो निरन्तर विराजित हो ही। मेरा यह सर्प कर ही क्या सकेगा ? यदि मैं ही इसपर लपक पड़ूँ तो ! कुछ भी अनिष्ट मेरा नहीं कर सकता यह सर्प—तुम, तुम, तुम, तुम मेरे साथ हो। तुम्हीं, तुम्हीं तो मुझे कह रहे हो कि मेरे द्वारा ही इसे बल मिला है, मेरे निमित्तसे यह बलवान बना है। इसके बलका उद्‌गम-स्थल मेरी आँखें हैं। और फिर, भले मेरा भ्रम ही हो, पर मुझे दीख तो रहे हैं ये मेरे प्राणवल्लभ ही निरन्तर इसके अन्तरालमें। किंतु यदि मैं अपने मनका निश्चय इन्हें बतला देती हूँ, तब तो ये मुझे रोक लेंगे। आगे बढ़ने नहीं देंगे। चुपचाप अचानक मैं इसके सामने चली जाती हूँ और देखती हूँ—क्या, कैसी वस्तु यहाँ है ? क्या करता है मेरा यह।' प्राणनाथ उसके और मेरे बीचमें केवल सात हाथका ही अन्तर था—मुझसे वह सर्प केवल सात हाथकी दूरीपर ही अवस्थित था। मैं क्षणभर तुम्हारे मुखसरोजको निहारती रही और फिर विद्युत्‌वेग से उसके आगे उछल पड़ी, सर्वथा निकट-से-निकट जा पहुँची और बोल उठी—'अरे ! तुझे जो करना है, कर ले। मैं सम्मुख खड़ी हूँ, अगर तू सचमुच सर्प है तो मुझे काट खा और नहीं तो यह मात्र भ्रमजाल है।···'

"एक क्षणके लिये मेरी आँखें मुँद गयीं। और तुम तो मेरे पीछे विराजित थे ही, तुमने अपनी भुजाओंमें मुझे भर लिया—मुझे ऐसी अनुभूति हो रही थी प्राणनाथ !

फर भी मैंने तुरंत आँखें खोल लीं और तुमसे बोली—'प्राणनाथ ! सर्प कहाँ गया ?' मैं चकित होकर देख रही थी, किंतु कहीं सर्प दीख जो नहीं रहा था और तुम, तुम अपने दृगसरोजकी धारासे मेरी अलकोंको सिक्त कर रहे थे। न जाने कब, कैसे मैं तुम्हारे अङ्कमें आसीन हो गयी थी और तुम्हारा अनर्गल अश्रुप्रवाह मेरे कुन्तलोंको आर्द्र कर रहा था···।

"जीवनसर्वस्व ! उस समय हम दोनोंका क्या हाल था, कैसी अभिनव अद्भुत विह्वलता थी - इसे तुम स्मरण कर लो, प्राणवल्लभ ! और मैं तो इसे मनमें ही रख लूंगी, इसे प्रकट नहीं करूँगी। क्या किससे कहना है ···।"

अचानक भानुकिशोरी मानो भाव-समाधि-से जग, दृष्टि घुमाकर देखने लग जाती है और उन्हें भान होने लग गया है कि वे बात तो कर रही हैं अपने प्राणवल्लभ नीलसुन्दरसे, पर एक भ्रमर भी वहीं संनिकट देशमें ही बैठा है और उससे भी कुछ बातें कर चुकी हैं वे।

उनकी मुद्रा क्षण-क्षणमें बदलती है, अङ्ग-भङ्गिमामें प्रतिपल परिवर्तन होता जा रहा है। कभी वे सामने खड़े हुए प्राण-देवताको निहारकर हँसने लगती हैं और कभी भ्रमरकी ओर दृष्टिपात कर मौन धारण कर लेती हैं। पाँच-सात पल इस स्थिति-में ही अवस्थित रहकर फिर कह उठती हैं—"प्राणवल्लभ ! क्या, किससे कहनी है उस स्थितिकी बात। और यह भ्रमर तो उसे क्या समझ पायेगा। हाँ, तुममें मुझमें यदि अपने प्राणोंको मिला दे सके, तो भले ही जान ले यह, हम दोनोंकी उस स्थितिको।···

"मेरे प्राणरमण ! तुम्हें स्मरण होगा—मैं विकल हो उठी थी इतना-सा कह कर ! मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि भौंरा पुनः रोने लग गया है, इसलिये न चाहने-पर भी उसे कुछ कह देने चली थी मैं। अपने मनकी जो बात मैं प्रकट नहीं करना चाहती थी, उस बातका किंचित् अंश उसे बतला देने चली थी। यद्यपि बड़ी लज्जा लग रही है मुझे प्रियतम। "

अचानक भानुकिशोरीको अनुभव हुआ कि वे कुछ असम्बद्ध प्रलाप कर रही हैं और उनका भ्रम है, जो वे अपने प्राणवल्लभको प्रत्यक्ष वहीं विराजित देख रही है। उनकी आँखें पुनः निमीलित होती हैं और वे सोचने लगती हैं—'कोई दूत आया है, उसे मैं संदेश दे रही हूँ।' आधे क्षण इस भावनामें, इस प्रतीतिमें वे डूब जाती हैं और फिर नवीन क्षणका उन्मेष होते-न-होते अपने प्राणवल्लभसे ही रसमयी चर्चामें तन्मय

हो जाती हैं और कुछ पलोंमें प्राबल्य हो जाता है प्राणवल्लभकी अवस्थितिका ही तथा कहने लग जाती हैं किशोरी—"प्राणवल्लभ ! बड़ी लज्जा लग रही है मुझे उस सर्पके इतिवृत्तको कहनेमें । अच्छा, और तो कोई है नहीं, तुमसे ही तो कह रही हूँ । तुम सुनना चाहते हो, इसलिये कह रही हूँ—तो सुनो—कलनासे परे उस कालका कितना परिमाण व्यतीत हो चुका था, जब हम लोगोंकी वह भाव-समाधि शिथिल हुई थी, इसे कौन बताये, तुम्हीं जानो ।' सर्प कहाँ चला गया, इसका उत्तर तुम मुझे दे रहे थे । कैसी मधुस्यन्दिनी गिरा थी तुम्हारी ! तुमने यही तो कहा था, प्राणवल्लभ ! प्राण प्रियतमे ! देखो ! जिन महाभावमयी आँखोंमें मैं निरन्तर बसा हुआ हूँ, जिन आँखों की रसधारासे पाषाण विगलित हो जाता है, पावक शीतल हो जाता है, जो नयन सरोरुह अतीत, वर्तमान एवं भविष्यके दृश्योंमें निरन्तर स्वभावसे ही रसमय सागरका निर्माण करते रहते हैं—रससागरको उच्छलित बनाते रहते हैं, उन्हीं आँखोंमें रमा हुआ, उनकी अप्रतिम गरिमामें सना हुआ, उनसे ही प्रेरित होकर तो मैं उस महाविषधरके कलेवरमें संनिविष्ट किया गया था । अतएव वह महाभुंजगम यदि गल गया, विगलित हो गया तो उसमें आश्चर्य ही क्या है, मेरे असंख्य प्राणोंके प्राण राधे !···और वहाँ उस महा उरगके स्थानपर काला रंग-मात्र बच गया तुम्हें उरमें भरनेके लिये तो अचरजकी कौनसी बात है ? प्रियतमे ! अधिक क्या कहूँ, मेरा कंठ अवरुद्ध हो रहा है ।"

"प्रियतम ! उसके पश्चात् जो घटना घटी थी, उसे भी स्मरण कर लो—न जाने कौन-सा उद्दीपन पाकर श्यामा कल्लोलिनी बड़े वेगसे उच्छलित हो उठी थी—लहरें हम दोनोंके चरणोंको प्रक्षालित करने लगी थीं और दूसरे ही क्षण मैंने देखा था—वह समुज्ज्वल वर्ण रेणुका मेरे पदतलमें आकर लिपट गयी थी । मैंने स्पष्ट सुना था, प्राणधन ! उसे ठीक-ठीक ऐसा कहते—'दम्पति हे ! क्या तुम मुझे यहीं छोड़कर चले जाओगे ?' और उस समय तुम्हारी आँखें ऊपरकी ओर उठ रही थीं—सम्भवतः तुम कालका अनुमान लगा रहे थे । उचित ही था । हिमकर अपनी किरणोंका वितान तान रहा था ठीक हम दोनोंके मस्तकपर । अस्तु,

"मैं अत्यन्त व्यथित हो उठी थी, प्राणवल्लभ ! रेणुकाकी उस प्रार्थनाकी मुद्रामें की हुई उक्तिको स्मरण कर और बिना सोचे-समझे मैं मन-ही-मन कह गयी थी—'कोई भी हो, कैसी भी हो, जो एकबार मुझसे जुड़ चुकी, उसे तो मैं कदापि छोड़ूंगी ही नहीं, उसकी आशा मैं क्यों तोड़ूँ ?' तुम, तुम, साँवर मेरे प्राण-प्रियतम ! तुम मेरे ही हो मेरे ही थे, मेरे ही रहोगे । मैं तुम्हें जो भी कह दूंगी, वही तुम तत्क्षण कर ही लोगे, फिर मैं भला, क्यों किसीको कभी क्षणभरके लिये भी निराश करूँ ? नहीं-नहीं, मुझसे

ऐसा हो नहीं सकता। और यह रेणुका तो अभीतक मेरे पदतलमें ज्यों-की-त्यों लिपटी पड़ी है। अहा! कितनी मृदुला है यह, कितनी हल्की है यह, इसका हृदय कितना निर्मल है—उज्ज्वल है, और देखो सही—यह मेरे लिये ही तो, मेरे लिये ही तो अपने चेतन भावपर आवरण डालकर, अपना अपनत्व मिटाकर, सर्वथा जड़ बनकर यहाँ कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहमें, प्रवाहके परिसरमें पड़ी रहती है। मैं आऊँगी और इस रेणुकाके वक्षःस्थलपर चरण रखकर चलूँगी। कहीं, कोई क्षत मेरे पदतलमें न लग जाय, मेरे सुखके लिये इतना त्याग इस रेणुकाने किया है—मात्र इसे इतना ही सुख है कि मेरे पदतलमें कोई पीड़ा न हो जाय और इसीलिये चेतनताको जलाञ्जलि देकर जड़ताको वरण किया है इसने। अरे! मैं तो साँवर, मेरे प्राणवल्लभ, तुम, तुम, तुम—नीलसुन्दरकी दासी हूँ न प्राणनाथ! और इसलिये कैसे सम्भव था मेरे लिये कि मैं रेणुकाकी इस निष्ठाको भूल जाऊँ। बस, इसी भावमें बहकर मैं कह बैठी थी मन-ही-मन—'हे धूलि! तेरा परम मङ्गल हो, मेरे प्राणवल्लभ नन्दनन्दन तुझे स्वीकार कर लें।···'

"प्राणनाथ! मेरी आँखें भर आयी थीं उस समय। और मैं भी अपना अश्रु छिपानेके उद्देश्यसे आकाशकी ओर देखने लग गयी थी कि कहीं वे बाहर व्यक्त न हो जायँ। और तब मुझे भी भान हुआ था कि सचमुच बड़ी देर हो गयी है—श्यामा प्रवाहिणीके विलासको देखते-देखते—सरिताके तटपरकी क्रीड़ाको देखते-देखते। इसीलिये मैं तुमसे बोली थी– 'हे मेरे श्यामचन्द्र! मैं तुम्हारी सम्पूर्ण क्रीड़ाओंका स्वागत करती हूँ।' पर मेरी आँखें अब भी व्योममें विराजित चन्द्रकी ओर थीं। मैं अन्योक्तिके पद्ममें मानो चन्द्रसे बातें कर रही थी, ऐसे बोल रही थी, 'हे नीलचन्द्र! हे नीलमयङ्क! मैं तुम्हारी किरणोंका स्वागत करती हूँ। तुम यहाँ अविराम सबको शीतलताका ही दान करना। फिर मैं तुम्हें रास-नृत्य दिखलाऊँगी।' वास्तवमें मैं कह रही थी तुमसे ही और कह रही थी यह—'प्राणवल्लभ! तुमने जो मुझे महाभुजंगमकी लीला दिखलायी, उसका तो मैं स्वागत करती हूँ, किंतु जैसे तुम लहरोंकी मनुहार न माननेके लिये प्रेरणा दे रहे थे, वैसा न करना भला! किसीके हृदयको न तोड़ना भला! तभी तो मैं तुम्हें अपना निरावरण लास्य दिखाकर—तुम्हारा मनोरञ्जन कर पाऊँगी, प्राणवल्लभ!···'

"और यह कहकर मैं तुरन्त चल पड़ी थी, ठीक-ठीक स्मरण करो, ऐसे ही हुआ था न? जो हो, गलबाही दिये तुम मुझे आगे-आगे ले चल रहे थे। कुछ अत्यन्त रसीली बात कहकर हँस देते और सचमुच-सचमुच प्राणनाथ! तुम्हारी हँसीसे एक किरण-सी बिखर जाती थी और किरणें पुष्पके रूपमें परिणत हो जाती थीं। मेरे आगे

पुष्पोंका आस्तरण आस्तृत हो जाता था, सुमनमय पथ बन जाता था। मैं उसपर आनन्दमें विभोर अग्रसर हो रही थी तुम्हारे वाम पार्श्वमें, तुम्हारे अनाविल प्यारमें अभिषिक्त होकर। पर अचानक मुझे दीखा था—तुम अपने चरण उन कुसुमोंपर नहीं रख रहे हो, अपितु दोनों ही पद ठीक-ठीक कुसुमोंको बचा-बचाकर रेणुकापर ही रखते जा रहे थे। मैं अचरजमें डूबकर तुमसे पूछ बैठी थी—'ऐसा क्यों कर रहे हो प्राण-नाथ ! प्रियतम !!' और तुम भी तत्क्षण उत्तर दे बैठे थे—मुझे अपनी उस चेष्टाका हेतु बतलाया था— 'प्राणवल्लभे ! यह रज:कणिका मुझे प्राणके समान प्यारी है। अहो। जब दयामयी तुमने यह इच्छा कर ली, यह चाह लिया कि रज:कणिका मेरे साथ चलें, तब फिर मैं इनका त्याग कैसे कर सकता था ? अपितु मेरे मनमें तो उसी क्षण यह संकल्प जाग्रत् हो उठा था कि मैं जहां रहूँगा, वहीं ये भी रहेंगी ही। तुम्हारी चित्तधारामें इन्हें साथ रखनेकी वृत्ति उत्पन्न होते ही मेरे अन्तस्तलमें यह संकल्प उदित हो गया था, प्राणवल्लभे !' मैं सोचने लग गया था—'अहा ! कितनी महा-महा-महिमामयी हैं ये रज:कणिकाएँ ! और अहो ! देखो, ये तो मेरे प्राणोंकी रानीके पदमें चिपक गयी हैं। मेरी प्राणेश्वरी राधाके चरण-सरुरोहोंको इन्होंने अपने वक्ष:स्थलपर धारण कर लिया है। अहो ! इन अपरिसीम सौभाग्यशालिनी रज:कणिकाओंको मैं भला इसके बदले दे ही क्या सकता हूँ ! मेरे पास है ही क्या ? मैं नित्य इनका ऋणिया बना ही रहूँगा। इनके ऋणका परिशोध मेरे लिये तो असम्भव है।'

"प्राणाधिक ! तुम्हारी प्रीतिकी गरिमासे पूरित इस उक्तिको सुनकर मैं फू-फू कर रो उठी थी। मेरे लिये अब आगे पद-विन्यास करना बड़ा ही कठिन हो गया था। जड़िमा मानो सब ओरसे मुझे आवृत किये जा रही थी। फिर भी जैसे-तैसे तटिनी-निकुञ्जमें तुम्हारे सहयोगसे पहुँच ही गयी और पद्मोंसे निर्मित शय्यापर जाकर लेट गयी। किंतु तुम मेरे चरणोंके समीप आकर बैठ गये। ..

"गद्गद् कण्ठसे तुम कह रहे थे—'प्रियतमे ! मुझे भी यह एक दान दे दो—मैं भी अपने हृदयमें एक चिर लालसा सँजोये प्रतीक्षा कर रहा हूँ—मेरे भी आकुल प्राणोंकी अभिलाषा है कि मैं अपनी अलकोंसे तुम्हारे इन चरण-सरोरुहोंको पोंछ-पोंछ कर निरवधि असमोर्ध्व सौभाग्यशाली और सुखी बना रहूँ। प्राणेश्वरी राधाके चरण-सरोरुहोंपर एकमात्र मेरा ही स्वत्व रहे—इन्हें केवल वे ही स्पर्श कर सकें—स्पर्श करें, जिनका मन, जिनकी बुद्धि, जिनकी अहंता ठीक-ठीक मेरे समान ही, मेरे समान जलसम कृष्णवर्णताको धारण कर लें और अविराम इन्हें रससिक्त रखें।

"प्राणनाथ ! अतिशय लज्जामें मैं डूब गयी थी। सोच न पा रही थी—क्या उत्तर दूं मैं तुमको। उसी क्षण मेरे प्राणोंकी ऐकान्तिक लालसा—एकमात्र अभिलाषा प्राणोंके अन्तरालमें हिलोरें लेने लगी। मैं मन-ही-मन इन भावनाओंकी आवृत्ति करने लग गयी थी—'प्राणाधिक ! जीवनसर्वस्व ! तुम्हें जिसमें सुख हो तुम वही कर लो। बस, मैं उसीमें, उसमें ही सुखका अनुभव करती हूँ, करती थी, करूँगी। जीवनधन ! मैं तुम्हें कभी, किसी भी प्रसङ्गको लेकर म्लान नहीं देख पाऊँ—मेरी आँखें तुम्हारे मुखसरोजपर म्लानताकी क्षीण-से-क्षीण कोई-सी रेखातक कभी न देख पायें। मेरे सम्पूर्ण तनका—तनके प्रत्येक रोमका, मेरे मनका, मेरे चित्तका, मेरी बुद्धिका कण कण, अणु-अणु, परमाणु-परमाणु रहे एकमात्र तुम्हारे लिये प्रतिपल नवीनसे नवीन सुखका सृजन करनेके लिये ही। इनका अस्तित्व रहे ही एकमात्र तुम्हें सुखदानके लिये।'

"प्राणाधिक ! मेरे प्राणोंका यह स्पन्दन मेरी पलकोंपर तुम्हें सुस्पष्ट अभिव्यक्त दीख रहा था। तुमने ही यह बात मुझे पीछे कही थी, और उन्हीं भाव-भावित पलकोंसे तुमने अनुमति ले ली थी तथा अपने सुरभित कुन्तलोंसे मेरे चरणोंका संलालन करने लगे तुम। हम दोनोंको यह भान भी न हो सका था कि रजनीका विराम कब हो गया है।"

भानुकिशोरीके भाव-सिन्धुमें अचानक एक अतिशय वेगवान उच्छलनका आविर्भाव हुआ और उन्मादिनीकी भाँति वे सुन्दरी सरोवरकी उमड़ती हुई जलराशिकी ओर भाग चलीं। सहोदराने उन्हें अपने भुज-पाशमें आवृत्त कर लिया और बीस-तीस पलतक भानुनन्दिनी गम्भीर मूर्च्छामें निमग्न पड़ी थीं। सर्वत्र नीरवताका साम्राज्य था...।

और जब इस भाव-समाधिका क्षणिक विराम हुआ, तब भानुकिशोरी किंचित् प्रकृतिस्थ-सी दीख पड़ रही थीं और निमीलित नेत्रोंसे ही मानो किसी भ्रमरको स्मरण कर कह रही हों—ऐसी मुद्रामें बोल उठीं—'मधुकर ! तुम्हीं बतलाओ, मेरी इस परिस्थितिपर गम्भीर विचार कर तुम न्याय करना, भला ! और फिर निर्णय देना ...हाय रे ! क्या कहूँ, मधुप ! इसीलिये, इसीलिये उन कुन्तलोंसे मार्जित मेरे इन चरणोंपर एकमात्र मेरे प्राणधन नीलसुन्दरका ही स्वत्व है। वे ही इन्हें स्पर्श करनेका अधिकार-दान कर सकेंगे। मधुप ! इसीलिये, इसीलिये मेरी विनम्र विनती, अत्यन्त मनुहारभरी विनतीको मानलो, तुम मेरे चरणोंका स्पर्श मत करो...।'

भानुकिशोरीकी उत्पल-दल-सी आँखें इस अन्तिम उक्तिके समय, 'स्पर्श मत करो' कहते समय आधे क्षणके लिये उन्मीलित हुई थीं अवश्य, किंतु पुन: निमीलित हो गयीं—यद्यपि वाणीसे वे अविराम भावसे अगणित रस-पूरित बातें कहती ही जा रही थी। पर उनकी, उनकी उन महाभावमयी परम पावन उक्तियोंको केवल, केवल वे ही सुन सकीं, जो अपना सर्वस्व स्वाहाकर उनके चरण-सरोरुहपर न्योछावर हो चुकी थीं ; जो मरु-मरीचिकाके जल-बुद्बुदसे मोहित थीं या हैं, वे सुन ही कैसे पातीं !

पाटल-दलों-सदृश भानुनन्दिनीके होठोंका स्पन्दन इस दिनकरने अवश्य देखा है। यह निर्लिप्त व्योम विमुग्ध बना अपने हृदयमें उस ध्वनिको सँजोये अवस्थित है। उसे स्पर्श करके अनिल आज भी चञ्चल है और नीरमें सरसताका संचार वह ध्वनि आज भी कर ही रही है। धराने ध्वनिकी सहिष्णुता—उसके सर्जककी सहिष्णुताके अन्तरालसे व्यक्त होते हुए सौरभको छिपा लिया है, अपने अन्तस्तलमें ; किंतु इनका अनुभव करने आज कौन आ रही है, कौन आ रहा है ?

दो दण्डकी पूर्ण नीरवता (स्वगत नीरवता) के अनन्तर महाभावकी पुत्तलिका मानो पुन: स्पन्दित हुई और वीणाके तारोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त सुमधुर, मधुरातिमधुर स्वर नि:सृत होने लगा—'मैं अनर्गल क्या-क्या बक गयी; सचमुच विक्षिप्त हो गयी हूँ मैं; एक ओर यह षट्पद् रो रहा है और मैं इसे कथा सुना रही थी। ओह ! मिलिन्द रे !! मत रो। बतला दे—अपना हृदय खोलकर मेरे सामने रख दे। मैं तेरी सम्पूर्ण व्यथा हर लूंगी। क्या करूँ ?' कुछ क्षणोंके लिए किशोरी ध्यानस्थ हो गयीं। पर पुन: इस बार उन्मादका मानो एक नवीन झोंका आया और उसी प्रवाहमें उड़ती हुई वे बोलने लग गयीं—'मिलिन्द तो कुछ भी बतलाता नहीं। अच्छा तो मैं अपने प्राणवल्लभ नीलसुन्दरसे पूछ लेती हूँ इसके मनकी बात। वे तो मुझे बता ही देंगे ...।'

एक पल बीतते-न-बीतते भानुकिशोरी उच्च स्वरसे हँस पड़ीं और बोलीं—"भ्रमर रे ! मैं तो जान गयी तुम्हारे गुप्त मनोरथको ; वह तो तुम्हें दे ही देती हूँ तथा किंचित् और भी अपनी रुचिसे भी दे रही हूँ।

"देखो मिलिन्द ! तुम इस तुलसी-काननकी द्रुम-वल्लरियोंसे तादात्म्य लाभ कर लो। प्राणवल्लभ नीलसुन्दरकी दासी मुझ राधाकी भुज वल्लरियोंमें तुम्हारा अस्तित्व ऐकान्तिक भावसे पर्यवसित हो जाय। मेरे प्राणधन नीलदेवताका अपरिसीम सुखमय सांनिध्य तुम्हें नित्य-निरन्तर उपलब्ध रहे ! इतना ही नहीं, और सुनो, मैं

तुम्हें वरदान दे रही हूँ—'इन सच्चिन्मय अरुणिम बंदोंमें बँधी हुई राग-बहुला भाव-लहरियोंकी सत्ता—उस सत्तासे अनुप्राणित सच्चिन्मयी श्यामल अनुरक्ति आत्मसात् किये रहे तुम्हें निरवधि, निरवधि···निरवधि' ।"

भानुनन्दिनीको अपने शरीरकी विस्मृति हो गयी और उस अवस्थामें कटे कदली-स्तम्भकी भाँति धरापर गिरकर गम्भीर मूर्च्छामें समा गयीं वे ··।

भानुकिशोरीका सिर अपने अङ्कमें धारण किये उनके मुख-सरोजको अनर्गल अश्रु-प्रवाहसे सिक्त करके ललिता बोल उठीं—"दूत ! क्षणभरके लिये इसे तुम अवश्य दीखे थे ; तुम्हें लक्ष्य कर यह कुछ शब्द बोल भी गयी थी ; फिर भावमयी विस्मृतिका उन्मेष हुआ इसमें । इस तमालको ही प्राण-प्रियतम साँवरके रूपमें अनुभव करने लगी यह और फिर इसकी आँखें तुमपर केन्द्रित हुईं तो अभिनव उन्मादमें यह सोचती थी तुम्हारे ही माध्यमको लेकर—'मेरे प्राणवल्लभ नीलसुन्दर हैं ? नहीं-नहीं, मयूर है ? नहीं-नहीं, भौंरा है ।' और भ्रमरसे, तुमसे अपने उरःस्थलका भाव खोलकर बतला गयीं । इसने अपनी जानमें मधुकरको वरदान दिया है । पर तुम इसे अपने लिये ही मान लो, भला ! साँवरके दूत !! साँवरके सखा !!! यह वरदान अक्षरशः सत्य होगा, मैं ललिता कह रही हूँ—मेरी उक्ति कभी मिथ्या नहीं होती ।" मूर्च्छित हो गयी ललिता सुन्दरी भी । दूतकी आँखोंसे झर-झर अश्रुकी धारा प्रसरित हो रही है । एक अभिनव अद्भुत उन्मादका उन्मेष हो गया उसमें । दो दण्डतक अविराम लोटता ही रहा है वह धराकी उस रजमें, जहाँ अभी-अभी भानुकिशोरीके चरण टिके हैं और सहसा भाग छूटता है वह मधुपुरीकी ओर सर्वथा उन्मत्तकी दशामें ।

चातक - संदेश

फटी आँखोंसे किशोरी उस बकुलकी शाखाकी ओर देख रही थीं, और उस शाखापर अवस्थित पपीहा पी कहाँ, पी कहाँ, पी कहाँ'की रट लगा रहा था…।

आज किशोरीकी निराशा-वेदना प्राणोंमें एक अद्भुत ज्वालाका संचार कर रही थीं और पपीहेके 'पी कहाँ, पी कहाँ' रवके अन्तरालसे किशोरी कुछ-का-कुछ अनुभव कर रही थीं। सचमुच समीपमें कोई भी न था किशोरीकी सँभालके लिये। कैसे, क्यों सबकी अनुपस्थिति एक साथ ही हो गई, कौन कहे ? पर नीरव, निर्जन उस निकुञ्ज-देशमें मात्र सत्ता उपलब्ध हो रही थी उस चातककी और वेदनाकी पुञ्ज बनी किशोरीकी।

अश्रुका अनर्गल प्रवाह रह-रहकर किशोरीके नीले परिधानको आर्द्र कर देता और कभी किशोरी जड़िमाके पूर्ण आवेशमें अवस्थित हो जातीं। अचानक किशोरी अनर्गल असम्बद्ध प्रलाप सा करने लग गयीं—'कितनी दूर है, द्वारावती यहाँसे ? कितने समुद्र पार करने होंगे वहाँ जानेके लिये ? किंतु, किंतु मैं अपने लिये थोड़े सोच रही हूँ ? तो किसके लिये सोच रही हूँ ? अच्छा–पक्षी उड़ना जानते हैं क्या ? कितनी दूर-तक उड सकेंगे ? उड़ते होंगे। कोई तो नहीं रहा, किससे पूछूँ ? हाय रे, विधिका विधान…! दूर-दूर, बहुत दूर वह नीला समुद्र, वह नीली भुजा…पानी–आग–ज्वाला …तो…।' उस ओर 'पी कहाँ, पी कहाँ' की रट चातकके मुखसे अविराम निस्सृत हो रही थी।

एक बार अट्टहास, फिर दूसरे ही क्षण दैन्यकी चरम परिणतिमें किशोरी संतरण करने लग गयीं। कहना कठिन है–कितनी देर लगी किशोरीको चातकके लिये एक सम्बोधनका स्वर बाहर निस्सृत करनेमें, वे गद्गद कण्ठसे मात्र 'चा-चा-चा-चा' का उच्चारण कर रही थीं और फिर 'त–त–क–क—हे—हे' बोल पायीं…।

अपने दोनों कर-सरोजोंपर मस्तक टेककर किशोरी कुछ सोचने लग गयो। और फिर न जाने कैसे सुस्पष्ट स्वर इस भाँति व्यक्त होने लगा उनके श्रीमुखसे—

"प्यारे चातक हे ! तुम चिरकाल जीवित रहो ! मेरी मङ्गल-भावना तुम्हारे लिये अनन्तकालतक रक्षा-कवच बन जाय। मेरे आशीर्वादके अभेद्य कवचको कालकी कराल दृष्टि छू ही न सके। अहर्निश अपने प्रीतम स्वाती मेघके चिन्तनमें तन्मय रहो तुम। देखो ! अहंताके आवेशमें मैं यह आसीस तुम्हें नहीं दे रही हूँ; मेरे प्राणनाथ नीलसुन्दरने एक दिन मेरे चिबुकका स्पर्श करके यह कहा था—'मेरे प्राणोंकी रानी ! तुम जो कह दोगी, वही हो जायगा। तुम्हारे मुखसे निस्सृत वचन सर्वथा-सर्वांशमें सत्य होंगे।' और इसीलिये पपीहा प्यारे ! मेरा विश्वास है, मेरी वाणी सत्य-सत्य, ध्रुव सत्य होगी—मृत्यु तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकेगी। किंतु विहँगम हे ! मेरी एक सेवा करना। आज अनाथा राधिका तुमसे भीख माँग रही है। अहर्निश मेरे प्राण नीलसुन्दरके वियोगकी ज्वालामें जल रहे हैं, कितने दिन, कितने युग बीत गये, मैं नहीं जानती, पर प्राणवल्लभ नन्दनन्दन अब मेरे पास नहीं हैं मुझे छोड़कर इस समय द्वारावतीमें विराज रहे हैं, तो अब मैं कुछ ही क्षणोंके लिये जीवित दीख रही हूँ। किंतु जितने पल मेरा तन प्राणोंसे संयुक्त रहेगा, उतने क्षण स्वभाववश न जाने कितना असम्बद्ध प्रलाप मैं करती ही रहूँगी। अतएव इस हतभागिनीके अनर्गल प्रलापसे खिन्न न होकर मेरी एक सेवा तुम अवश्य कर देना…।

सुनो ! वियोगकी ज्वाला मेरे प्राणोंको तो आत्मसात् कर लेगी, किंतु मेरे तनका एक उपयोग है; और उसीमें किंचित् तुम्हारी सहायता मुझे अपेक्षित है। देखो—प्राणोंके जल जानेके अनन्तर उसके उत्तापसे ही मेरे तनका कण-कण भस्म तो बन जायगा ही, किंतु आवश्यकता होगी उसे बिखेर देनेकी। तुम यह करना—इस तरु-शाखासे नीचे उतर आना, मेरे निष्प्राण कलेवरको एकबार देख लेना। जब मेरा वक्षःस्थल स्पन्दनशून्य प्रतीत हो, तब अपने चञ्चुसे अपने चरणोंसे उसे छू देना एक-बार। अपने-आप भस्मकणावलि एक-दूसरेसे पृथक् हो जायेंगी। और फिर वैसे ही मस्तकके देशको भी बिखरी हुई भस्म-कणावलिमें परिणत कर देना। और उनमेंसे मात्र एक कण अपने चञ्चुमें ले लेना…।

यह सत्य है—तुम्हें अतिशय व्यथा होगी, तुम असुविधाका अनुभव करोगे; उस समय 'पी कहाँ, पी कहाँ' की करुण पुकार तुम्हारे मुखसे निस्सृत न हो सकेगी; क्योंकि तुम प्राणाधिक नीलसुन्दरकी दासी राधाके निष्प्राण भस्मीभूत कलेवरका एक कण अपने चञ्चुमें छिपाये जो रहोगे। बोलनेसे वह कण स्खलित होकर धरापर, यहीं-की मेदिनीपर गिर पड़ेगा; और उसे तुम्हें सुरक्षित रखना है। किंतु यही तो तुम्हारी

मेरे ऊपर विशेष करुणाका प्रकाश हुआ कि तुम उतनी देर अपने चञ्चुको सम्पुटित किये रहोगे; और जिसे एक दिन नीलसुन्दर 'प्राणोंकी रानी' कहते थे, उसकी – हाँ विहंगम ! उसकी—एक सेवा सम्पन्न कर सकोगे…।

अब तुम्हें बिना कोई भी अन्य विचार किये, उस ओर ही अविराम उड़ते जाना है, जिस ओर वह द्वारावतीका देश अवस्थित है, जहाँ मेरे प्राणधन नीलसुन्दर आज विराजित हैं। जब महासमुद्रका तट तुम्हें प्राप्त हो तो भयभीत मत होना। निस्सन्देह निर्विघ्न तुम मेरे आशीर्वादके बलसे उड़कर उस पार पहुँच ही जाओगे। द्वारावतीके समुद्रका दूसरा तट पारकर तुम मेरे श्याम-मयङ्कके वर्तमान क्रीड़ास्थलमें प्रवेश पा ही लोगे। वृन्दा-काननकी समस्त शोभा अब निरावरण रूपमें तुम्हें वहीं द्वारावतीमें ही मिलेगी…।

तो सुनो ! तुम द्वारावतीमें किसी उद्यानके किसी उत्तुङ्ग वृक्षपर जाकर निवास करना और निश्चित ही उस समय दिनकर प्रतीची क्षितिजको छूते रहेंगे। इसलिये ही तुम निशाका विश्राम उस पादपपर ही कर लेना। किंतु यह भी सम्भव है कि दो दण्ड रात्रि व्यतीत होते-न-होते मेरे प्राणदेवता उसी, उसी पादपके नीचे आयेंगे। फिर भी तुम मौन रहना, कुछ भी इङ्गित न देना कि सुदूर वृन्दा-काननसे तुम आये हो, और राधाके तनके भस्मावशेषका एक कण लेकर आये हो। देखो, उस समय ज्योत्स्नामयी रजनी होगी। तुम देखोगे, नीलसुन्दरकी आँखोंसे अनर्गल अश्रुका प्रवाह बह रहा होगा। जानते हो क्यों ? वे अभी भी मुझे भूल जो नहीं पाये हैं…

आतुर हुई पट्टमहिषियाँ उन्हें ढूँढ़ने आयेंगी, और फिर उन्हें लेकर प्रासादके उत्तुङ्ग भवनमें वे जा विराजेंगी। फिर दिनमणि जब प्राची गगनको उद्भासित करने लगेंगे, तब उस समय तुम क्रियाशील होना। तुम राजभवनमें कभी प्रविष्ट न होना। बाहर सुदूर राजपथके किसी तरुपर विराजित रहकर प्रतीक्षा करना मेरे नीलसुन्दर प्राणदेवताके आगमनकी। जैसे ही वे तोरणद्वारसे बाहरकी ओर चलें, वैसे ही तुम भी आकाशमें सुगुप्त भावसे उनका अनुसरण करना। आज सम्पूर्ण दिवस वे कहाँ, कैसे, किस-किस ओर जाते हैं, कैसे अवस्थित होते हैं, इसकी ओर—उनकी समस्त गति-विधिकी ओर ध्यान रखना। राजपथके दोनों ओर उड़-उड़कर देखते रहना, कहाँकी भूमि अधिक, अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। जहाँ-जहाँ भी उनके चरणसरोरुहका विन्यास हुआ हो, वहाँ-वहाँके सम्पूर्ण धराखण्डका तुम निरीक्षण करना। और जहाँ

अपेक्षाकृत सबसे अधिक कठोर भूमि, अथवा नुकीले मणिखण्डोंसे पाटित भूमिका भान तुम्हें हो, वहीं, बस वहीं तुम्हारी सेवाका अवसर तुम्हें मिलेगा। वहीं, वहीं तुम्हारे द्वारा मेरी एक अप्रतिम सेवा सम्पन्न हो जायगी। देखो, सबकी अनजानमें तुम मेरे तनके उस भष्मकणको, वहीं—उस स्थलपर ही चञ्चु खोलकर गिरा देना। हाय रे ! मैं कैसे कहूँ कि ऐसा करनेके लिये तुम्हें मैं क्यों कह रही हूँ…

अच्छा सुनो—'ज्योत्स्नामयी रजनी थी। निशाका अवसान पर्याप्त दूर था। निकुञ्जदेशके उस पद्म-पर्यङ्कपर मैं बैठी थी। और निर्निमेष नयनोंसे मुझे निहारते हुए मेरे प्राणरमण प्राणाधार प्राणसर्वस्व प्राणवल्लभ नीलसुन्दर विराजित थे। उनके अङ्गोंमें कम्पन था, स्वेदका प्रवाह चल रहा था, सभी नीले अङ्ग पुलकावलीसे विभूषित थे…। अचानक मुझे प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगी, प्राणवल्लभ नीलसुन्दरके रागपूरित उरःस्थलका सम्पूर्ण राग मेरे हृत्तलमें उमड़ आया है। चातक हे ! मैं भावोंकी आँधीमें ऐसी बह चली कि वस्त्रोंका भान रखना भी मैं भूल गयी, और मेरे प्राणारामके करतल-युगल भी भावोंकी गरिमासे यन्त्र-चालित-से ऊपरकी ओर उठने लगे। रागसे ओत-प्रोत मेरा हृत्तल व्याकुल होकर, नीलसुन्दरकी ओर ही मानो दौड़ पड़ा अपने अस्तित्वको सर्वथा उनमें ही विलीन कर देनेके लिये। मैं सँभाल न सकी अपने-आपको। तथापि एक विचार अब भी अवशिष्ट था—क्या उपक्रम करूँ समर्चनाका ? कैसे अर्चना करूँ अपने नीलदेवताकी ? चातक हे ! मेरे प्राणवल्लभका निवास नित्य मेरे उरःस्थलमें ही तो है, और मेरी रुचिका आदर नित्य स्वभाव है उनका। जानती नहीं, कैसे क्या हुआ, किंतु मैं स्पष्ट देख रही थी—पीत-सरोरुह झर रहे थे मेरे नीलदेवताके नील करतल-युगलपर। और उस पिङ्गल उत्पल कोषपर विराजित रसमत्त चञ्चरीक धन्य हो उठे थे मेरे प्राणसार-सर्वस्वका उन्मादी स्पर्श पाकर। अब नील-सुन्दर भी अपने-आपको विस्मृत कर चुके थे और ढलक पड़े थे वे मेरे उरःस्थलपर ही। एक अस्फुट रव फूट रहा था उनके मुखसे—'मेरे प्राणोंकी रानी ! मृदिमाका सम्पूर्ण उद्गम-स्थल तुम्हारा यह रागरञ्जित हृत्तल ही तो है ! इस मृदिमाकी जय हो ! जय हो !! जय हो इस मृदुलताकी ही !!! कालके अनादि प्रवाहमें जो भी स्पर्श कर पायेगा इस असमोर्ध्व मृदिमासे स्पृष्ट मेरे नील-कलेवरको, वह भी बन उठेगा अप्रतिम अपरिसीम मृदिमाका पुञ्ज ही…।'

और भी सुनो—'ताम्बूलरञ्जित मेरे अधरोंकी ओर वे निहार रहे थे। और मेरी दृष्टि केन्द्रित थी उनके बिम्ब-विडम्बी होठोंपर ही। किंतु मेरे प्राणरमण

नीलसुन्दरमें क्रमशः उन्मादका संचार होने लग गया। वे कहने लग गये; "किंतु ओह! कैसे बताऊँ? उनकी उक्तिके अन्तरालसे व्यक्त हुई अपनी प्रशंसाको निर्लज्ज होकर कैसे कह दूँ तुमसे चातक हे! पर हाय रे! स्थिर—मौन रह भी नहीं सकती। उस दृश्यको प्रकट किये बिना कैसे मैं तुम्हें समझा सकूँगी मेरे उद्देश्यकी गरिमाको! तुममें उल्लासका सृजन हो जो नहीं सकेगा इसे जाने बिना।... अतएव तुम सुन लो। वे मेरे नील-मयङ्क कह रहे थे—"नहीं-नहीं, प्राणप्रिये! प्राणाधिके! राधे! तुम्हारी आत्यन्तिक भ्रान्ति है इस मधुमूलके सम्बन्धमें। सत्य तो यह है—सम्पूर्ण मधुका प्रवाह तुम्हारे इन अरुणिम अधरपल्लवोंके अन्तरालसे ही है। प्रतिक्षण वर्धमान यह मधु-समुद्र तुम्हारे इन अधरोंके अन्तरालमें असंख्य ऊर्मियोंका सृजन कर रहा है। ओह! यह उच्छलन ही तो सम्पूर्ण विश्वमें अनाविल माधुर्यका सृजन करता है।" किंतु चातक हे! उस ओर मैं अनुभव कर रही थी—यह मधु-समुद्र तो मेरे प्राणाराम नीलचन्द्रके होठोंमें ही संनिविष्ट है। अतीत, अनागत सम्पूर्ण मधुरिमाके मूल ये अधरोष्ठ ही तो हैं।

इतनेमें भावका एक उद्वेलन ऐसा हुआ, जिसमें मैं सर्वथा डूब गयी। सर्वत्र इतना-सा भान ही मेरे लिए बच रहा था, प्राणवल्लभके इस एक स्वरकी झंकृति ही अवशिष्ट थी—"मेरी जीवनसार - सर्वस्वा राधाके अधरोष्ठसे व्यक्त हुए अपरिसीम मधु-सिन्धुकी जय हो, जय हो! इस मधु-सिन्धुके एक कणका आस्वादन पाकर कृतकृत्य हो गया मैं। इतना ही नहीं, देखो तो सही—अब मधुके एक कणका भी दान मेरे द्वारा जहाँ भी, जिसके प्रति भी होगा, ऐसा ही मधुपूर बन उठेगा वह गृहीता भी"...

इसके आगेकी घटना भी अपने चित्तपर अङ्कित कर लो, चातक हे! निविड़ निकुञ्जोंपर अमा-निशाका साम्राज्य था। घन-तिमिरके जालमें पथ पाना असम्भव था। किंतु अचरजकी बात थी, चातक हे! वे मुझे गरबाँही दिये तेजसे उद्भासित पगडंडीसे आगे लिये जा रहे थे। मुझे और उन्हें कहीं भी तिमिरकी भान न हो रहा था। न जाने क्यों, मैं पूछ बैठी—'प्राणवल्लभ! आज तो अमावस्या थी न?' और उत्तरमें मेरे कर्णपुटोंमें अमृत उड़ेलते हुए वे बोले—"अमा ही तो है।"

मैं समझ नहीं पा रही थी कि नभकी तारक-राशिका यह प्रकाश तो हो ही नहीं सकता, पर साथ ही सर्वत्र प्रकाश-पुञ्ज मानो मुझे घेरे हुए चल रहा था। और

तो क्या, जब मैं निकुञ्जके तोरणके समीप पहुँची, उस क्षण सुदूर कलिन्दनन्दिनीका वह प्रवाहतक मुझे सुस्पष्ट दीख रहा था। बुद्धि मेरी चञ्चल हो उठी, मन कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर पा रहा था। आखिर मैं पूछ बैठी—'प्राणरमण ! तुम बताओ, यह कैसे हो रहा है ?' और गद्गद कण्ठसे मेरे प्राणरमणका यह उत्तर था, चातक !—"हृदयेश्वरि ! तुम्हारे अङ्ग-संस्थानसे निस्सृत तेजपुञ्जका चमत्कार है यह !"

विश्वास मुझे नहीं हो सका; अपितु मेरी प्रतीति यह थी कि प्रकाश तो नीलाभ है, यह मेरे प्राणाधिकके श्रीअङ्गोंकी नीलिमा ही है। और तर्ककी मुद्रामें मैं उनसे बोल उठी—'प्रकाश तो नीलिमासे परिपूरित है, प्राणवल्लभ ! मेरा प्रकाश होता तो पिङ्गल क्यों नहीं है यह ? आँखें भर आयीं मेरे प्राणरमणकी, और वे बोले—"सत्य-सत्य कह रहा हूँ। प्राणवल्लभे ! नीलाभकी अनुभूति तुम्हें ही है। मैं तो सुस्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ—प्रकाश तो सर्वथा, सम्पूर्णतया पिङ्गल ज्योतिका वितरण कर रहा है। तुम्हारी आँखें नीलिमा देखती हैं, इसीलिये प्रकाश भी नीलाभ दीख रहा है तुम्हें।" मेरे मनमें आया, उत्तर दूं कि यही न्याय तो तुम्हारे लिये भी है। तुम्हारी आँखें पीत-द्युतिसे परिपूरित हैं, और तुम ज्योतिको पीताभ अनुभव कर रहे हो···।

चातक ! हम दोनोंके अतिरिक्त निर्णय करनेवाला वहाँ कोई न था उस समय। कुञ्जका कण-कण मुझे नीलिमासे परिवेष्टित दीख रहा था, और उन्हें पीतिमाके अतिरिक्त अन्य अनुभूति न हो रही थी। और जिस समय मैं उस पद्मपर्यङ्कपर जा बैठी थी, उस समय वे मेरे चरणप्रान्तमें बैठे हुए अपने नयन-सरोजोंके जलसे मेरे चरण-नखोंको आर्द्र कर रहे थे। हक-बक-सी हुई मैं उनके करयुगलको अपनी अञ्जलिमें लेकर मनुहारके स्वरमें बोली—'तुम रो क्यों रहे हो, प्राणनाथ !' मैं सोच नहीं पा रही थी—कौनसे अभिनव भावके आवेशमें मेरे जीवन-सर्वस्वका मन निमग्न है, और लोरकी धाराके रूपमें वह बाहर मुझे अभिषिक्त करने आया है। मैंने स्पष्ट अनुभव किया, चातक ! उनके नयनोंमें पहले एक सुगुप्त अभिलाषाकी छाया व्यक्त हुई; फिर वे नयन-नलिन सहसा चञ्चल हो उठे ; इसके अनन्तर मुझे यह स्पष्ट अनुभव हुआ—सम्भवतः चार प्रहरसे अथवा इससे भी कुछ अधिक कालसे मेरे जीवन-सर्वस्व तन्द्रित नहीं हुए हैं। मैं यह सोच ही रही थी कि इतनेमें उनकी पलकें मुझे स्थिर-सी दीखने लगीं। और ओह ! तनुताके सुस्पष्ट चिह्न नील-कलेवरके विभिन्न स्थलोंपर परिलक्षित होने लग गये मुझे। दो पल बीतते-न-बीतते एक अभिनव वैयग्र्यने उस तनुताको

आत्मसात कर लिया। लाल-लाल चकत्तेसे उभर उभर उठे उनके विशाल वक्षःस्थलके भिन्न-भिन्न अंशोंमें। उन्मादकी एक क्षीण रेखा भी मुखमुद्रापर उस समय अवश्य थी—मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है, चातक हे ! किंतु मैं अब शङ्कित हो गयी थी— क्या मेरे प्राणाधिक मूर्च्छित होने जा रहे हैं ? मेरी उपस्थितिका उन्हें भान है, यह भी मैं ठीक-ठीक निर्णय न कर पा रही थी। मैं उन्हें किंचित् झकझोरती-सी, कातर-कण्ठसे बोल उठी—'प्रियतम हे ! तुम्हें क्या हो रहा है ? ओर मेरी यह उक्ति पूर्ण होते-न-होते, उन्मादी स्वरमें वे कह रहे थे 'किसीने अब तक नहीं जाना—मेरे अङ्गोंका प्रकाश मेरे अङ्गोंसे झरती हुई अभिनव द्युतिके नामसे प्रख्यात यह ज्योति-पुंज, इसका इसका, हाँ, हाँ इसका...हाँ हाँ, इसका मूलस्थल क्या है ? वे जान भी नहीं पायेंगे। पर सत्य तो सत्य ही है। एकमात्र हेतु इस प्रकाशका, बस, इतना ही है—मेरा यह नील-कलेवर, मेरे ये काले अङ्ग-संस्थान स्पृष्ट हो गये हैं मेरी प्राणप्रिया राधाके, श्रीअङ्गोंके अनुपम सुन्दर ज्योति-पुञ्जसे। और अब उसी स्पर्शका प्रभाव यह है—जो भी स्थावर-जङ्गम मेरे अङ्गसे निकले हुए नीलाभ तेजके कणमात्रसे अभिभूत होंगे, हुए हैं, वे भी उस अप्रतिम ज्योति-पुञ्जके विस्तारक बन जायेंगे, जिस ज्योतिमें सम्पूर्ण बीभत्सता विलुप्त हो जायगी, जो ज्योति अपरिसीम सौन्दर्यका नित्य आकर बनी रहेगी। अहा ! जय हो, जय हो, ! मेरी प्राणप्रिया, जीवनसार-सर्वस्वा, प्राणवल्लभाकी अप्रतिम पिङ्गल ज्योति की...।'

"एक और घटना सुनो, चातक हे ! शारदीय सुषमासे वनप्रान्तर विभूषित था। अपनी कुछ सहचरियोंके साथ मैं सुन्दरी-सरोवरके परिसरमें पुष्प चयन कर रही थी। तरुवल्लरियोंके किंचित् स्पन्दित होते ही राशि-राशि सुमनोंका अम्बार लग जाता था मेरे आगे। मैं सोचती थी—यह कैसे हो जा रहा है ? बिना प्रयत्नके ही इतने कुसुम मेरे आगे क्यों एकत्रित हो जाते हैं ? मैं पूछ बैठी अपनी सहचरियोंसे—'क्यों री ! तुममेंसे कोई इसका रहस्य बतला सकोगी ? एकने कहा—'बयारके झोंकेसे शाखाएँ हिल जाती हैं और तरु-लताएँ अपनी निधि तुम्हें दान कर देती हैं।' मैंने हँसकर पूछा—'अरी ! बयार क्यों बहती है, और सो भी अचानक ?' मेरी एक प्राण-सहचरीने हँसकर बतलाया—'देख, तुझे बात याद तो रहती नहीं। अभी तू कुछ गुन-गुन कर रही थी, इससे पहले हम-सबसे कुछ-न-कुछ बोलने लग जाती थी। इतना मधुर रव तेरा है कि समीर नाच उठता है, झूम उठते हैं ये तरुजाल, लता-वल्लरियाँ—आनन्दावेशसे कम्पित हो जाती हैं। यह सब होता है तेरे स्वरके मिठासके कारण।' और इतनेमें चातक हे ! हुआ यह कि पीछेसे मेरे प्राणरमण नीलचन्द्र

आये, और अपने दोनों कर-पल्लवोंसे मेरी आँखें मूंद लीं उन्होंने यह कहते हुए— "अरी ! तुम सबोंने ठीक ही कहा है; ऐसी ही अनूठी मधुस्यन्दिनी गिरा है मेरी प्राणप्रियाकी । "

उस क्षण कैसे, क्या मेरी दशा हुई थी, और कैसे वे मनुहार करते हुए मुझे मेरी सहचरियोंके साथ कुञ्जमें ले आये थे—यह सब मैं तुम्हें कैसे बताऊँ, चातक ! उनके उस प्यार-दानकी प्रतिक्षण नव-नव शैली कैसी प्राणोन्मादिनी होती है, इसे तुम देखकर ही अनुभव कर सकते थे । जो हो, हुआ यह कि कुञ्जकी मनोरम शय्यापर मुझे विराजितकर, दैन्यकी चरम अवस्थामें स्थित होकर वे मेरे कण्ठस्वरकी शत-शत बलैया लेने लग गये । वे उन्मत्तकी भाँति कहते जा रहे थे । मैं एवं मेरी सहचरियाँ, हम सभी विस्फारित नयनोंसे उनके मुखपद्मपर दृष्टि केन्द्रित किये सुनती जा रही थीं । उनकी उक्तिका सारांश यह था—'...तुम भ्रान्त हो गयी हो, मेरे प्राणोंकी रानी ! जीवनेश्वरि ! इसलिये ही कहती हो कि मेरा, तुम्हारे नित्य क्रीतदास मुझ कृष्णका, स्वर मधुका सृजन करता है । तुम जान नहीं पायीं कि मेरे कण्ठ-रवका मधु कहाँसे, किस उत्ससे अनुप्राणित होता है, और उसमें मधुरिमा भर जाती है...।

"प्राणवल्लभे ! स्मरण करो उस संकीर्ण वीथीके पथको एवं उस वेलाको, जहाँ जब हम दोनों ही आमने-सामने अवस्थित थे, प्राणोंमें भावी विप्रलम्भकी वेदनाका ताप लिये ।······पल-दो-पलकी अदर्शन ज्वालाकी आशङ्कासे ही वैवर्ण्यका संचार हो गया था तुम्हारे श्रीअङ्गोंमें । मैं एकटक निहार रहा था तुम्हारी ओर ही, और मेरे नयन विज्ञप्ति कर चुके थे—प्राणवल्लभे ! यह कुछ पलोंकी वेदना तुम सहन कर लेना भला ! उस क्षण हम दोनोंके प्राणोंकी क्या दशा हुई थी, इसे तुम स्वयं स्मरण कर लो। प्राणप्रियतमे ! तुम्हारी आकुलताकी वह मुख-मुद्रा आज, इस क्षण भी मेरे स्मृति-पटलपर ज्यों-की-त्यों अङ्कित है । भावकी गरिमामें हम दोनोंके ही प्राण ऐसे डूब चुके थे कि बाह्य स्मृति सर्वथा विलुप्त-सी हो उठी थी ।...और 'प्राणनाथ ! जाओ' कहती हुई तुम सर्वथा स्तम्भित हो उठीं । तुम्हारा वदनाम्भोज स्वर-विन्यासकी मुद्रामें किंचित् खुलकर ज्यों-का-त्यों ही रह गया था । सम्भावित वियोगकी कल्पनासे शङ्कित, उत्तप्त हम दोनोंके प्राण एकाकार हो उठनेको व्याकुल हो गये, और पल बीतते-न-बीतते परिरम्भण इतना दृढ़ हो गया, मानो छूटना जानता ही न हो । प्राणेश्वरी राधे ! तुम्हारे अरुण अधर अब भी खुले हुए थे और हक-बक-सी हुई तुम देख रही थीं मेरी ओर ही । उस क्षण, उस आकुलता-वेदनाके संधिदेशपर ही तुम्हारी जिह्वाके

अमृत-तिरस्कारी मधुरसका स्पर्श पा गया था मेरे स्वरका संस्थान। और तबसे कालके अनादि प्रवाहमें मेरा वह कर्कश रव अप्रतिम मधुस्यन्दी स्वरके रूपमें ही परिणत हो गया है। प्राणवल्लभे ! व्रज-काननके अधिवासी ही प्रमाण हैं इस सत्यके—मेरे कौमारके रुदन-रवमें भी वह माधुर्य ज्यों-का-त्यों ही परिपूरित था—अक्षुण्ण था। मेरे पौगण्ड और शैशवकी सम्पूर्ण वैखरी गिरा, उस ओर 'मा—मा, ता—ता' का अस्फुट उच्चारण, इस ओर वेणुका प्राणोन्मादी स्वर—ये सब सर्वथा-सर्वांशमें सने हैं उसी प्रवहमाण मधुरिमाकी ऊर्मियोंसे ही। इस अभिनव रसपूरका उद्गम तुम्हारा वही—वही मधुदानी स्वरका प्रकाशक स्पर्श ही तो है, जिसने मुझे, मेरे स्वरको तो रसालय बनाया ही, अपितु उस स्वर-लहरीकी कणिका-मात्रसे स्पृष्ट हुए चराचरके सम्पूर्ण कण्ठ-रवको माधुर्य-तरङ्गिणीका रूप दे डाला। प्राणप्रिये ! मेरे कर्णेन्द्रियमें अमृत-कल्लोलिनीका स्रोत प्रवाहित करनेवाले तुम्हारे इस स्वरकी जय हो ! जय हो तुम्हारी इस मधुरस्यन्दिनी गिराकी ! ! जय, जय, जय !!!

"चातक हे ! इस प्रकार कहते हुए ढलक पड़े थे मेरे प्राणसारसर्वस्व नील-सुन्दर मेरे ही अंसपर।···

"एक दिनका खेल और सुनो—शिशिर और बसन्तकी संधि थी। वसन्त अपनी पूर्ण गरिमाके साथ निकुञ्ज—काननपर अपनी दृष्टि डालनेके लिये प्रस्तुत हो रहा था। मैं जा रही थी प्राचीकी ओर; पूर्वाह्णकी वेला थी। सहसा जब मैं सघन काननकी ओर अग्रसर होने लगी तो शत-सहस्र मिलिन्द-दल मेरी ओर उड़ता हुआ दीख पड़ा। चातक हे ! वास्तवमें मिलिन्दकी इतनी बड़ी टोली मैंने देखी नहीं थी। मैं घबड़ाकर एक निकुञ्जमें जा छिपी उनसे बचनेके उद्देश्यसे। पर अचरजकी बात यह थी कि उस निकुञ्जके ठीक पार्श्वमें, पाँच-दस धनुषकी दूरीपर ही, एक अन्य सघन निकुञ्ज था, जिसमें प्राणाराम नीलसुन्दर छिपकर विराजित थे एक अतिशय रसमयी अभिसंधिको लिये। मैं एकाकिनी न थी। सहचरियोंका जाल मुझे आवृत किये था। हँस-हँसकर उन सबोंने भी मुझे यही परामर्श दिया था—'अरी ! इन भौंरोंसे बचनेके लिये तू अपने इस कलेवरको पत्रोंके जालमें छिपा ले। हम सब उसे चारों ओरसे घेर ले रही हैं।' और पल बीतते-न-बीतते हुआ यह कि भौंरोंकी टोलीने परि-क्रमा आरम्भ कर दी उस निकुञ्जकी। सहचरियाँ और भी रहस्यमयी हँसी हँसने लग गयी थीं; क्योंकि उन्हें भान हो गया था कि मेरे जीवनसर्वस्व नीलसुन्दर भी वहीं उसी पार्श्ववर्ती निकुञ्जमें निलीन अवस्थित हैं। पल्लवच्छिद्रोंसे वे उन्हें देख भी र

थीं। प्राणरमण उन्हें यह इङ्गित भी दान कर चुके थे—तुम सब यह प्रकट मत करना कि मैं भी यहीं हूँ। अस्तु, भ्रमरावली उन दोनों निकुञ्जोंकी फेरी दे रही थी और उनका सुरुच्य गुञ्जन तो बड़ा ही अद्भुत प्रभाव डाल ही रहा था, साथ ही मुझे एक अभिनव सौरभकी अनुभूति हो रही थी। और वह मादक सौरभ क्षण-क्षणमें नवीन–नवीनतर होता जा रहा था। उसका आकर्षण बढ़ता ही चला जा रहा था···। मुझे सन्देह होने लगा— यह मादक गन्ध तो निश्चय ही मेरे प्राणरमण नील–देवताकी अङ्ग-गन्ध ही है। चातक ! मैं जानती हूँ—उनके श्रीअङ्गका कैसा अप्रतिम सौरभ है। अगणित बार परिचय पा चुकी हूँ उसके विमोहन प्रभावका। मेरी घ्राणेन्द्रियकी निधि भी तो वही हैं। जो हो, मैं सोचने लग गयी —'तो क्या वे अभी आये हैं, अथवा पहलेसे ही यहाँ उपस्थित थे। लज्जाका आवरण छिन्न न हो सका; मैं कुछ भी सहचरियोंसे पूछ न सकी। मेरी नर्म सहचरियोंका मधुर हास्य मेरे संदेहको, नहीं-नहीं मेरे विश्वासको, मेरे प्राणदेवताकी उपस्थितिके निश्चयको, क्षण-क्षणमें परिपुष्ट कर रहा था।

"अचानक मेरी आँखें अपने आप निमीलित होने लगीं, मानो निद्राका आवेश आरम्भ हो गया। उस लघु-निकुञ्जमें ही पुष्पोंका एक सुन्दर आस्तरण आस्तृत था। कैसे, किसने उसकी रचना की, इस सम्बन्धमें कोई भी कल्पना उत्थित नहीं हुई मेरे मनमें। और निर्भीक मैं उसपर लेट गयी।

"चातक ! कैसे क्या होता है, क्यों होता है, मैं नहीं जानती। किंतु जब भी मेरी आँखें मुँदी हों, और मेरे प्राणाधिक वहाँ आकर उपस्थित हो जायँ—भले ही मैं उन्हें देख न पाऊँ, फिर भी—एक अनुपम वैयग्र्य मुझे आत्मसात् करने लगता है। मेरी घ्राणेन्द्रिय सर्वथा अनुभूत अतुल सुवाससे परिपूरित होने लगती है, और मेरी पलकें लाख रोकनेपर भी उघड़ जाती ही हैं। यही हुआ चातक ! इस बार भी, उस दिन भी। मेरी आँखें खुलीं और मैंने देखा—अञ्जलि बाँधे आर्द्र नयनोंसे क्लिन्न कलेवर हुए, अभिनव सौरभका विस्तार करते हुए वे मेरे चरण-प्रान्तमें खड़े थे। मैं उठ बैठी, और वे अतिशय विह्वल अवस्थामें मेरे सम्मुख उसी पुष्पास्तरणपर विराज गये। कुछ पलतक तो वे बोल ही नहीं पाये—ऐसी विह्वल दशा थी उनकी···जब वे किंचित् प्रकृतिस्थ हुए तो गद्गद कण्ठसे बोले —कैसा उन्मादी सौरभ है तुम्हारे अङ्गों-का, मेरे प्राणोंकी रानी !

"मैंने उनके होठोंपर अपनी अंगुलियाँ रख दीं, और आज न जाने कैसे मुझमें अचानक हँसीका संचार हो गया। हँसती हुई-सी, जैसे वे बोले थे, ठीक मानो उन्हीं-की मुद्राका अनुकरण करती हुई मैं बोल उठी—"ओर तुम बतलाओ मेरे प्राणधन! कैसे उन्मादका सृजन करनेवाली तुम्हारे श्रीअङ्गोंकी गन्ध है। मेरी निमीलित आँखें ऐसे अवसरपर क्यों खुल जाती हैं!! तुम बतलाओ, हे मेरे रसिकशेखर देव!!!..."

"ऐसी प्रश्नावली चार-पाँच पलोंतक चल सकी, और उनके पूछने पर मैंने बतलाया—किस भाँति भौंरोंके भयसे मैं यहाँ सहचरियोंके परामर्शसे आ छिपी थी। साथ ही मैंने हेतु जानना चाहा कि एक साथ इतना विशाल अलिकुल मेरी ओर दौड़ता हुआ क्यों आया। इसपर ही वे रुक रुककर मुझे समझा रहे थे '''प्राणेश्वरि! तुम्हारे श्री-अङ्गोंका सौरभ ही ऐसा है, जो सुदूर वनस्थलके सम्पूर्ण खण्डोंतकको सुरभित कर देता है। और जब मधुकर-श्रेणीको उस गन्धका भान होता है तो वह चल पड़ती है उस गन्धका आश्रय करके बहती बयारकी मूल दिशाकी ओर। प्राणवल्लभे! आज मैं भी तुम्हारा संकेत पा सका हूँ तुम्हारे गीतसे स्पृष्ट पवनकी दिशाके माध्यमसे ही।"

"मैं विश्वास न कर सकी इस बातपर; क्योंकि मैं आत्यन्तिक निश्चयसे यह निरन्तर अनुभव करती रही थी, करती रही हूँ, आज भी कर रही हूँ—विश्वके संपूर्ण सौरभका मूलदेश है—मेरे प्राणरमण नीलसुन्दरका श्रीअङ्ग-संस्थान ही। इसीलिये मैं कह बैठी—'नहीं-नहीं, भृङ्गावली तुम्हारे सौरभसे आकृष्ट होकर आयी थी। निश्चय ही उसके घ्राणको आत्मसात् कर रही थी तुम्हारी श्रीअङ्गोंकी गन्ध ही।' किंतु चातक वे स्वीकार नहीं कर रहे थे, और मैं जिद किये बैठी थी कि मेरी अङ्ग-सुवास ऐसी हो, यह असम्भव है। मेरी उक्ति मिथ्या हो ही नहीं सकती। मैं जो भी कह रही हूँ, वही सत्य है। यह तुम्हारी भ्रान्ति है, जो तुम मुझमें सौरभकी अनुभूति करते हो।"

"आखिर निर्णयके लिये हमारी सहचरियाँ बुलायी गयीं। मैं भी उनकी मनुहार करती हुई, उन सबोंको सत्य-सत्य निर्णय देनेके लिये बाध्य करने लगी:'''इतनेमें हँसकर वे बोले—'ये निर्णय नहीं कर सकेंगी, मैं करता हूँ—और युक्तिपूर्ण मेरा निर्णय होगा। अच्छा तुम घ्राण लेकर देखो—तुम्हारी सहचरियोंके अङ्ग-सन्निवेशोंमें भी मादक गन्ध है कि नहीं।' मैंने उपेक्षापूर्ण उत्तर दिया—'हो सकता है। पर तुम्हारे साथ किसीकी तुलना हो नहीं सकती है, हो नहीं सकेगी।"

"फिर हँसे वे मेरे प्राणरमण और बोले—'तो प्राणवल्लभे ! इसका तो यह अर्थ हुआ कि मैं तुम्हारी वञ्चना कर रहा हूँ।' मैं हक-बकसी हुई कुछ भी बोल न सकी; क्योंकि चातक हे ! कभी क्षणार्धके लिये भी, स्वप्नकी क्षीणतम छायामें भी, मुझे यह अनुभव नहीं हुआ कि मेरे प्राणनाथ कभी मुझे ठग सकते हैं। पर साथ ही मैं यह भी स्वीकार नहीं कर सकती थी कि मेरी अङ्ग-गन्धका प्रभाव है भ्रमरावलीपर। जो हो, अजब-सी स्थितिमें बरबस मेरी आँखें झरने लग गयीं और उस ओर लोरकी अनर्गल धारा मेरे नीलसुन्दर प्राणवल्लभके नयन-सरोजोंसे बह चली। सहचरियोंकी आँखोंसे भी अश्रुका निर्झर झरने लग गया। कितनी देरतक हम सब-के-सब नीरव रहे—कौन बतावे ? पर कुञ्ज मुखरित हुई तब, जब मेरे जीवनसर्वस्व विह्वल होकर इस भाँति बोलने लगे—'सत्य-सत्य, ध्रुव सत्य है—तुम्हारे श्रीअङ्गोंसे स्पृष्ट होकर ही, तुम्हारे सौरभसे सुवासित होकर ही मेरे इस नील-कलेवरका कण कण विश्व-विमोहन सौरभकी सर्जकस्थली प्रख्यात हुआ है, मान लिया गया है। और इतना ही नहीं, जहाँ जो भी मेरे इस सौरभसे स्पृष्ट हुआ, हुई—वे-वे भी—उनका कण कण भी प्राणोन्मादी सौरभका समुद्र ही बन गया। बोलो री सहचरियो ! बोलो री सहचरियो !! अतीत अनागत की अनुभूत एवं अननुभूत सम्पूर्ण विश्वविमोहक सौरभकी मूल उत्स मेरी हृदयेश्वरी प्राण-संजीवनी राधाके असमोर्ध्व श्रीअङ्गसौरभकी जय, जय, जय !

"··चातक ! प्रियतमके कर-सरोज मेरे दोनों स्कन्धोंपर विराजित थे। मैं उन्हें निहार रही थी और उनकी दृष्टि मेरे मुखपर स्थिर बनी थी। कालमानसे कितना समय लगा हम दोनोंके पुनः प्रकृतिस्थ होनेमें, अग्रिम क्रीड़ाका उपक्रम करनेमें, इसे अबतक कोई भी बतला नहीं सका है, विहंगम ! मेरे निकुञ्जदेशका काल भी एक पहेली है, जो सुलझ नहीं सकती।···तुम भी क्या करोगे इस ओर ध्यान दे करके ! मेरी सेवाका सम्पादन करना जो है तुम्हें। अस्तु"

"तो चातक हे ! आज अभी अभी तुमको जो कुछ सुना चुकी हूँ, वे सभी घटनाएँ मेरे मानसतलका मन्थन कर रही है और मैं विचारमें पड़ी हूँ, रह रहकर सोच रही हूँ—कदाचित् मेरे प्राणवल्लभकी उक्ति ही सत्य हो; क्योंकि वे जो कह देते हैं, वह कभी मिथ्या तो होता नहीं। और इसलिये मेरे तनका जो भी भस्मकण अपने चञ्चुमें छिपाकर तुम लिये रहोगे, उस कणमें वे सभी प्रभाव निश्चित निलीन रहेंगे ही। मेरे सौभाग्यवश जब कभी भी उस कणसे मेरे प्राणनाथ, द्वारावतीपुरनिवासी नीलसुन्दरदेव स्पृष्ट हो जायेंगे, मेरे तनका वह भस्मकण जब कभी भी उनके चरण-

तलका स्पर्श पा लेगा तो बस, उसी क्षण मैं चिन्तामुक्त हो जाऊँगी। मेरा जलता हृदय शीतल हो जायगा, एक संतोषका अनुभव कर लेगा—अब, अब, अब मेरे प्राण रमण, जीवनसार-सर्वस्व नीलसुन्दर! परमाराध्यदेव सुरक्षित हो गये। उन्हें अब द्वारावतीका कोई भी कुस्पर्श छू नहीं सकेगा, अपितु उनके स्पर्शसे अद्भुत मृदिमा संक्रमित हो जायगी उस कुस्पर्श के माध्यममें। मेरे प्राणवल्लभको कोई भी कुरस बाधित न कर सकेगा, अपितु कुरसका वह आधार मधुरिमाका पुञ्ज बन जायगा। कोई भी कुदृष्टि, कोई सा कुरूप मेरे प्राणाराम, प्राणाधिक नीलचन्द्रको रुग्ण न कर सकेगा, उनमें निर्वेदका संचार न कर सकेगा, अपितु कुदृष्टि—सौन्दर्यहीनताका वह माध्यम अनाविल मङ्गलज्योतिका, अपरिसीम सौन्दर्यपूरका सर्जक बन जायगा। कोई भी कुस्वर मेरे जीवनके एकमात्र अवलम्बन रसिकशेखर प्राणवल्लभ नीलचन्द्रमाके कर्णपुटोंमें विरसताका संचार न कर सकेगा, अपितु कुस्वरका प्रतिभावक वह पदार्थ पीयूषके अभिनव, कभी न शुष्क होनेवाले स्रोतमें पर्यवसित हो जायगा। किसी भी कुवाससे स्पृष्ट बयार मेरे प्रियतम प्राणाधिक नीलमयङ्ककी घ्राणेन्द्रियमें व्यथाका भार सृष्ट नहीं कर सकेगी, अपितु वह दुर्गन्धयुक्त बयार, बयारका वह माध्यम—दोनों ही सौरभके विशाल ह्रद बन जायेंगे।···

"चातक हे! इस प्रकार मेरे जीवनकी दुर्दम्य अभिलाषाकी पूर्ति हो जायगी, और निरवधि मैं अपने जीवनसर्वस्वकी सँभाल कर पाऊँगी—सर्वथा सबकी दृष्टिसे अलक्षित रह कर। द्वारावतीपुरवासी अनुभव न कर पायेंगे कि उनके त्राता, उनके सर्वस्व नीलदेवताकी सेवामें किसी अज्ञात—उनकी एक दासीका भी, किंचित योग-दान है:···

"और इस प्रकार तुम्हारी चिर-ऋणिया होकर, कभी भी परिशोध न किये जानेवाले ऋणका भार स्वीकार करके तुम्हारे आगे अपने सूक्ष्मतम अस्तित्वमें भी मैं निरवधि नतमस्तक रहूँगी। कभी भी तुम्हारा गुण भूल न सकूँगी, चातक! पर इसके साथ ही तुम एक बातका ध्यान और भी रखना; अन्यथा मेरी सम्पूर्ण योजना विफल हो जायगी। ऐसा क्यों? बतलाऊँ तुम्हें?···

अच्छा, यह भी यत्किंचित् सुन लो—आज कुछ ही क्षणोंके पश्चात् मेरे निष्प्राण कलेवरसे सम्बद्ध कृत्यकी बात तो तुम्हें बतला ही चुकी; किंतु जब तुम द्वारावतीमें उनके प्राणोंके अन्तरालमें झांकनेका प्रयास करोगे तो तुम्हें प्रतीत होगा कि वे द्वारा-वतीमें हैं ही नहीं। वे क्या देख रहे होंगे, क्या अनुभव कर रहे होंगे, इसे तुम कहाँ

तक देख पाओगे, कहाँतक जान पाओगे—कह नहीं सकती, चातक ! किंतु यह सत्य है, उसके कियदंशका भान तुम्हें अवश्य होगा । मेरा यह वरदान कभी व्यर्थ न होगा। तुम जैसे ही उनके हृद्देशमें अपने मनकी वृत्तिको केन्द्रित करोगे, वैसे ही द्वारावतीका वह विशाल प्रासाद, जिसमें आज मेरे प्राणरमण विराजित हैं, तुम्हारे दृष्टि-पथसे ओझल हो जायगा । इसके पश्चात् तुम पहली बात यह देखोगे, पहली अनुभूति तुम्हें यह होगी—किरणमाली प्रतीची क्षितिजकी ओर झूलते दीखेंगे तुम्हें, और उन प्रासाद-श्रेणीके स्थानपर यह वृन्दाकानन तुम्हारे नेत्रोंके कण-कणमें झलमल कर उठेगा । झूमते हुए वे सुदूर वनपथसे आते दीखेंगे तुम्हें, और असंख्य गो-राशि उनका अनुसरण करेगी । आगे कुछ शिशु होंगे —सबके-सब ! समवयस्क । वेणुके छिद्रसे पीयूषका निर्झर झरता रहेगा । और देखो, वहाँ एक बड़ा ही सुन्दर कूप दीखेगा तुम्हें । उस कूपपर मैं खड़ी रहूँगी । एक लघु स्वर्ण कलशी मेरे हाथमें रहेगी । पट्ट डोरीमें कलशी बँधी होगी । कलशीको मैं कूप-जलमें डुबाकर बारंबार उसे किंचित् ऊपर लाऊँगी और फिर उसे उसी कूप-जलमें ही निमग्न कर दूँगी। साथ ही तुम्हें अनुभव होगा कि आज राधाको भान नहीं है अपने तनका, मनका । उस ओर सहसा मेरे आराध्यदेव नील-सुन्दरका वंशी-वादन स्थगित हो जायगा अपने अधरोष्ठपर अपनी तर्जनीको स्थापितकर वे संकेत करेंगे शिशुओंको, उस असंख्य धेनुराशिको सर्वथा निस्पन्द हो जानेके लिये । फिर मन्द-मन्थर गतिसे उस कूपके जगतकी ओर अग्रसर होंगे वे । तुम्हें सुस्पष्ट दीखेगा—सर्वथा मेरे पृष्ठदेशकी ओर आकर गम्भीर दृष्टिसे निहार रहे हैं वे । मेरी बिखरी कुंतलराशि सर्वथा मेरी अनजानमें ही दक्षिण और बायीं ओर दोलित होती रहेगी । कलशी कूप-जलसे स्पृष्ट होकर वैसीकी-वैसी ऊपर-नीचे जाती रहेगी । उस पट्ट-डोरीके सहारे घड़ारीपर मैं उसे नीचे-ऊपर करती दीखूँगी तुम्हें । इतनेमें उनका यह मधुस्यन्दी स्वर गूंज उठेगा तुम्हारे कर्णपुटोंमें—"प्राणाधिके ! मेरी तृषाकी ज्वालाको शान्त कर दो । तनिक-सा जल पिला दो मुझे, अत्यधिक पिपासासे व्याकुल होकर मैं आया हूँ तुम्हारे पास..."

चातक ! कलशी मेरे हाथसे छूट जायगी, पट्ट-डोरीके सहित कूपमें ही जा गिरेगी । पहले मैं मूर्च्छाके अङ्कमें जाकर कूपके जगतपर गिरने लगूंगी । किंतु मेरे जीवन-सर्वस्व थाम लेंगे मुझे अपनी भुजाओंमें । वैसी-की-वैसी निस्पन्द धेनुराशि, वह शिशुओंका समूह और ऐसे ही बकुल-तरुकी शाखापर निस्पन्द रहकर तुम तीनों ही निहारते रहोगे मुझे ।···एक रूप-सुधाका समुद्र हिलोरें लेने लगेगा तुम सबोंके निर्निमेष नयनोंमें । उसकी एक ऊर्मि तुम्हें आत्मसात् कर लेगी । तुम्हारा वह विहंगम कलेवर

'पी कहाँ, पी कहाँ' की रटसे क्षणोंमें दोलित होगा और फिर क्षणोंमें ही जड़िमाके आवरणमें निस्पन्द बन जायगा।...कितनीदेरतक तुम इस दर्शनमें अपने-आपको खोये रहोगे, इसे क्या करोगे जानकर। जो हो, एक कम्प तुम्हारे चञ्चुमें, पक्षोंमें उत्थित होगा, और तुम उड़कर मेरे पास आओगे। जानते हो किसलिये? कदाचित् मैं किसी अंशमें तुम्हारी सेवाका प्रतिदान तुम्हें अपने प्राणवल्लभसे दिला दूँ। यह तुम्हें अनुभूति होगी उस समय—प्राणवल्लभ नीलसुन्दर तुम्हारे मस्तकपर अपना दक्षिण कर-सरोज स्थापित करेंगे। और इससे आगे क्या होगा—उसे तुम अनुभव कर लेना। गिरामें आकर तुम्हारी अनुभूतिकी वह चर्चा अपने सौन्दर्यपर एक आवरण डाल देगी। तुम्हारा वह सुखानुभव किसी अंशमें किंचित् न्यून हो जायगा . ।

तुम पूछ सकते हो, ऐसी ही अनुभूति क्यों होगी तुम्हें। देखो, यह होनेके अनन्तर जब तुम्हारे सामने दृश्य परिवर्तित होगा तो उस क्षण तुम यह देखोगे—वनस्थलके विभिन्न खण्डोंमें मैं एकाकिनी घूमती रहूँगी। पहले एक नीले समुद्रका दर्शन तुम्हें होगा और मैं उस ओरकी पगडंडीसे बेहाल अवस्थामें जाती हुई दीखूँगी तुम्हें। तुम आकाशमें उड़ते हुए अनुसरण करते रहोगे, और ठीक-ठीक अनुभव करते रहोगे कि मैं मेरे जीवनके एकमात्र अवलम्ब नीलसुन्दर प्राणवल्लभको ही ढूँढ रही हूँ। फिर दीखेंगे मेरे वे नीलदेव मेरी ओर आते हुए। किंतु तत्क्षण मेरा उनसे मिलन न होगा। अभी वे छिपकर कुछ देर मेरे करुण-क्रन्दनको देखते ही रहेंगे। स्वयं भी अपने नयनोंसे अनर्गल अश्रुका प्रवाह बहाते हुए। और अन्तमें मैं नेत्र-निमीलितकर उनकी ओर उन्मादकी दशामें अग्रसर रहूँगी, सहसा वे मुझे अपने भुजापाशमें बाँध लेंगे···। उस क्षण तुम समझ जाओगे कि ठीक-ठीक वैसी वह प्रथम अनुभूति तुम्हें क्यों हुई थी . . अस्तु,

अब आगे तुम निरवधि वृन्दाकाननका निवास पा लोगे। 'पी कहाँ, पी कहाँ' रटके अन्तरालसे स्वातीके अभिनव स्निग्ध नीलमेघका दर्शन तो तुम पा ही लोगे, साथ-साथ तुम्हारे जीवनकी चिर-निष्ठा भी आज सर्वथा-सर्वांशमें सफल बन जायगी।

किंतु चातक! अब देर नहीं है मेरे कलेवरके निस्पन्द होनेमें। पर देखो, मैं यहाँसे उस वृक्षके नीचे चली जा रही हूँ, वहीं मेरे प्राण स्पन्दन-शून्य होंगे। जानते हो, क्यों उस वृक्षके नीचे जा रही हूँ? वहीं-वहीं प्रथम बार मेरे जीवनसर्वस्व प्राणवल्लभके दर्शन किये थे मैंने? कृष्ण कुटिल अलकोंसे उनका मुखसरोज आवृत था। वे किंचित्

मेरी ओर देखनेके अनन्तर उस तरुकी छायामें रुक गये थे, और नेत्र-संचालनके संकेत-से मुझे कुछ कहना चाह रहे थे। मैं भोली हूँ चातक ! उस समय भी भोली ही थी। समझ न पायी उनके इङ्गितको। आज किंचित् क्षीण रेखा-सी उसके रहस्यकी बात मेरे मानस-पटलपर उदित हो रही है। पर उसे मैं तुम्हें बता नहीं सकूँगी...

अचानक बकुलकी शाखापर आसीन पपीहा 'पी कहाँ, पी कहाँ' की पुकारमें संलग्न हो गया। इस ओर "कृष्ण ? प्रियतम ! प्राणाधिक हे ! मेरे जीवन-सार-सर्वस्व नीलसुन्दर हे ! हायरे, तुम कहाँ हो !" कहती हुई किशोरी मूर्च्छित हो गयीं। बकुल बड़े वेगसे स्पन्दित होने लग गया ..

सम्पूर्ण सहचरियोंका समूह किशोरी को घेरे अवस्थित है। सबकी आँखें निमीलित हैं। किंतु सचमुच ही, इसी क्षण सुन्दरी सरोवरके उत्तर तटसे नीलसुन्दर दौड़े आ रहे हैं इस स्थलकी ओर ही। उनकी गतिमें आत्यन्तिक त्वरा है भला। ..

शुद्धि-पत्र

पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२	बिहारीलाल	बिहारीलाल
१	१७	कर रही है	कर रही हैं
२	२	बाँयें	बायें
३	१०	आवृत्त	आवृत
४	१४	थी	थीं
७	१०	आवृत्त	आवृत
७	२६	सच्चिदानन्द-घन	सच्चिदानन्द-घन
१०	२-३	यति-कचित्	यत्-किंचित्
११	६	संक्रामित	संक्रमित
११	१८	ठहरी	ठहरीं
१२	२४	सकी	सकीं
१४	११	थी	थीं
१५	१५	पूर्ण विराम (।) हटाइये।	
१७	२२	उठी	उठीं
१८	३	कृत्यकृत्य	कृतकृत्य
१८	१६	दम्पत्ति	दम्पति
१९	२	अधीष्ठित	अधिष्ठित
२०	५	प्रथम पूर्णविराम (।) हटाइये।	
२१	४	किंचित	किंचित्
२२	८	उज्जवल	उज्ज्वल
२२	१०	उज्जवल	उज्ज्वल
२२	१५	वृद्ध	वृद्धा
२४	१५	शरद	शरद्
२४	२२	आवृत्त	आवृत
२४	२४	इनता	इतना
२४	२७	शोभित	सोभित
२५	६	दिया	लिया
२५	२१	मूर्त्त	मूर्त
२७	१८	उल्टे	उलटे
२७	२४	होती	होतीं
२८	३	शोभित	सोभित
२८	१६	असमोद्भव	असमोर्ध्व
२८	२८	असमोद्भव	असमोर्ध्व
२९	७	आवृत्त	आवृत
३०	२	मलकत	झलकत
३३	१०	कालम	कालमान
३३	१०	'ना' हटा दें	
३३	२५	दुख	देख
३४	१२	ग्वालिनी	ग्वालिनीकी
३५	१	मैयाके बाद सम्बोधन चिह्न (!) लगाइये।	
४२	१४	प्राणेश्वरी !	प्राणेश्वरि !
४२	१५	'प्रवृत्तिकी' के पश्चात् अर्द्ध विराम (,) लगाइये।	
४२	१५	छम	छद्म
४४	५	गयी	गयीं
४४	१३	हृदगत	हृद्गत
४५	६	आवृत्त	आवृत
४८	२	बहिद्वार	बहिर्द्वार
४८	५	कुञ्जीका	कञ्चुकीका
४८	११	शखाओंकी	सखाओंकी
४८	२६	किञ्चित	किंचित्
५५	५	सगमितकर	संगमितकर
५७	२९	रहा था के पश्चात् पूर्णविराम (।) लगाइये।	
५९	३	बातोको	बातोंको
५९	४	गना	घना
६१	७	हरितिमाका	हरीतिमाका
६२	४	दुःस्सह	दुःसह

पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६२	६	हाय रे! के बाद (') लगायें।	
६३	२२	मनस्तत्व	मनस्तत्त्व
६४	१०	संकेतक	संकेततक
६४	१३	यहाँसे, के पश्चात्‌का अर्द्ध विराम हटाइये।	
६५	१६	थी के पश्चात्‌का अर्द्धविराम (,) हटाकर वह के बाद लगाइये।	
६५	२६	गयी	गयीं
६७	१०	बृषभानुदुलारी	वृषभानुदुलारी
६८	१६	बहिनके पश्चात्‌का अर्द्धविराम (,) हटाइये।	
६९	२६	जाग्रत:	जाग्रत्
७०	१४	अनन्त्र	अनन्तर
७२	३	बहिन ! के उपरान्त " लगायें।	
७२	२३	बहिन । के उपरान्त पूर्ण विराम (।) के स्थान पर सम्बोधन चिह्न (!) लगायें।	
७३	१	परिपूरित है ? के पश्चात् (') लगायें।	
७५	१८	मञ्जरी	पद्म-मञ्जरी
८१	१४	विद्युत-सी	विद्युत्-सी
८१	१५	विद्युतका	विद्युत्-का
८२	२१	हैं के उपरान्त — लगायें।	
८२	२४	है के उपरान्त — लगायें।	
८२	२६	कलिन्दनन्दिना	कलिन्दनन्दिनी
८३	८	वृन्दा और कानन के मध्य (-) लगाइये।	
८३	१०	एक (यह) हटाइये।	
८४	१२	मेंरी	मेरी
८४	१६	राधाकिशोरीके पूर्व ' लगाइये	
८४	२१	दया के पूर्व ' लगाइये।	
८५	१	उद्दश्य	उद्देश्य
८६	६	क्याके बादका प्रश्नवाचक (?) कहूँ के उपरान्त लगायें।	
८७	३	जहरियोंमें	लहरियोंमें
८७	१८	उठ जाओ के उपरान्त अर्द्ध विराम लगायें।	
८८	१६	चुके हो मुझेके उपरान्त अर्द्ध (,)विराम लगायें।	
८९	१८	'मैं-ही-मैंके पूर्वका ' हटायें।	
९३	५	भानुकिशोरी-में के मध्यका (-) हटायें।	
९३	२३	उस पार उस पारके मध्य (···) लगायें।	
९३	२८	ही नहींके उपरान्त (;) लगायें।	
९४	२७	पैराको अंतमें ' से बंद करें।	
९५	२५	अभिमानमें, के बादका अर्द्ध विराम (,) निमग्नके बाद लगायें।	
९५	२६	प्राणनाथ ?	प्राणनाथ !
९५	२८	वज्र, गिर	वज्र गिर
९६	१०	उद्वेवेलित	उद्वेलित
९६	१२	महान	महान्
९६	२०	उठती है के पश्चात्—" लगायें।	
९६	२८	बैठा है···! को " से बंद करें।	
९७	८	रही है	रही हैं
९९	८	(गड़ैया) के दोनों ओरके कोष्ठक हटायें।	
९९	१४	लेती-लेतीके उपरान्त — लगायें।	
९९	२४	चेष्ठासे	चेष्टासे !
१००	१	न हो। को ' से बन्द करें।	
१००	१४	सहस	सहसा
१००	२२	बङ्किम है को ' से बंद करें।	
१०१	२३	है, के बाद अर्द्धविराम हटाकर पूर्णविराम (।) लगायें।	

पृ.सं.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०२	१७	आ गयी है, के बादका अर्द्ध-विराम हटायें।	
१०५	२५	रही है।	रही हैं।
१०६	१४	प्राणोंके	प्राणोंकी
१०७	१८	पद्म	छद्म
१०७	२८	गलबाही	गलबाँही
१०८	१४	सरुरोहोंको	सरोरुहोंको
१०८	२३	गद्गद्	गद्गद
१०८	२९	पैराको ' से बन्द करें।	
१०९	१७	वेगवान	वेगवान्
१०९	१९	आवृत्त	आवृत
११०	१६	षट्पद्	षट्पद
११३	११	नहीं है के बाद (,) लगायें।	
११५	४	भष्मकणको	भस्मकणको
११८	१	आत्मसात	आत्मसात्
११८	१	एक (उभर) हटायें ...	
११८	२	अशोंमें	अंशोंमें
११८	५	किंषित्	किंचित्
११८	६	रहा है को ' से बन्द करें।	
११८	१२	राधा के , बाद का अर्द्धविराम हटायें।	
११८	२३	सकोगी ? को ' से बन्द करें।	
११८	३०	प्राणरम	प्राणरमण
११९	१३	कृष्णका के बादका अर्द्धविराम (,) हटायें।	
१२०	१	सस्थान	संस्थान
१२०	१२	मधुरस्यन्दिनी	मधुस्यन्दिनी
१२०	१२	पैराको " से बन्द करें।	
१२१	१०	उपस्थित थे। को ' से बंद करें।	
१२१	२६	पाय	पाये
१२२	६	रुक रुकके मध्य (-) लगायें।	
१२२	६	रहे थे के उपरान्त पूर्णविराम (।) लगायें।	
१२२	१८	चातकके उपरान्त(!)लगायें।	
१२३	२	बक सी के मध्य (-) लगायें।	
१२३	११	कण कणके मध्य (-) लगायें।	
१२३	१३	कण कणके मध्य (-) लगायें।	
१२३	१६	पैराको ' से बन्द करें।	
१२३	२१	है	हैं
१२३	२१	रह रहके मध्य (-) लगायें।	
१२४	१९	किंचित	किंचित्
१२४	२६	पैराके आरम्भमें " लगायें।	
१२५	६	सबके-सब ! के बादका सम्बोधन चिह्न हटायें।	
१२५	१५	हो जायगा के पश्चात् पूर्ण विराम (।) लगायें।	
१२५	२५	पैराके प्रारम्भमें " लगायें।	
१२६	१०	पैराके प्रारम्भमें " लगायें।	
१२६	२२	पैराके प्रारम्भमें " लगायें।	
१२६	२६	पैराके प्रारम्भमें " लगायें।	
१२७	४	पैराको अन्तमें " से बन्द करें।	
१२७	६	कृष्ण ? के पश्चात् प्रश्नवाचकके स्थानपर सम्बोधन चिह्न (!) लगायें।	
१२७	११	भला। के अन्तमें पूर्णविरामके स्थानपर सम्बोधन चिह्न (!) लगायें।	

ज्ञातव्य—पुस्तकके अन्दर प्रत्येक सम-संख्यक पृष्ठपर पुस्तकका नाम—'चलो री सखि ब्रजराज मुख निरखिये'—छपा है, उसे 'चलो री, आज ब्रजराज मुख निरखिये' रूपमें पढ़ना चाहिये।